

Chapter सात

द्रोण-पुत्र को दण्ड

शौनक उवाच

निर्गते नारदे सूत भगवान् बादरायणः ।

श्रुतवांस्तदभिप्रेतं ततः किमकरोद्विभुः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

शौनकः उवाच—श्री शौनक ने कहा; निर्गते—चले जाने पर; नारदे—नारद मुनि के; सूत—हे सूत; भगवान्—दिव्य रूप से सर्वशक्तिमान; बादरायणः—वेदव्यास ने; श्रुतवान्—सुना; तत्—उसका; अभिप्रेतम्—मन की इच्छा, मनोवांछा; ततः—तत्पश्चात्; किम्—क्या; अकरोत्—किया; विभुः—महान् ने।

ऋषि शौनक ने पूछा : हे सूत, जब महान् तथा दिव्य रूप से शक्तिमान व्यासदेव ने श्री नारद मुनि से सब कुछ सुन लिया, तो फिर नारद के चले जाने पर व्यासदेव ने क्या किया ?

तात्पर्य : इस अध्याय में श्रीमद्भागवत के वर्णन किये जाने के लिए संकेत मिलता है, क्योंकि महाराज परीक्षित को अपनी माता के गर्भ में चमत्कारिक ढंग से बचा लिए गये थे। यह घटना आचार्य द्रोण के पुत्र द्रौणि (अश्वत्थामा) के कारण घटित हुई जिसने द्रौपदी के पाँच पुत्रों को सोते हुए में मार डाला और जिसके लिए अर्जुन ने उसे दंडित किया। इस महापुराण श्रीमद्भागवत का शुभारम्भ करने के पूर्व, श्री व्यासदेव ने समाधि द्वारा सारे सत्य की अनुभूति प्राप्त कर ली।

सूत उवाच

ब्रह्मनद्यां सरस्वत्यामाश्रमः पश्चिमे तटे ।

शम्याप्रास इति प्रोक्त ऋषीणां सत्रवर्धनः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—श्री सूत ने कहा; ब्रह्म-नद्याम्—वेदों, ब्राह्मणों, सन्तों तथा भगवान् से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित नदी के तट पर; सरस्वत्याम्—सरस्वती के; आश्रमः—ध्यान के लिए कुटी; पश्चिमे—पश्चिमी; तटे—तट पर; शम्याप्रासः—

शम्याप्रास नामक स्थान; इति—इस प्रकार; प्रोक्तः—कहलाने वाला; ऋषीणाम्—ऋषियों का; सत्र-वर्धनः—कार्यों को प्रोत्साहित करने वाला ।

श्री सूत ने कहा : वेदों से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध सरस्वती नदी के पश्चिमी तट पर शम्याप्रास नामक स्थान पर एक आश्रम है, जो ऋषियों के दिव्य कार्यकलापों को संवर्धित करने वाला है।

तात्पर्य : ज्ञान के आध्यात्मिक विकास के लिए उपयुक्त स्थान तथा वातावरण की नितान्त आवश्यकता होती है। सरस्वती नदी के पश्चिमी तट का स्थान इस कार्य के लिए विशेष उपयुक्त है और वहीं पर, शम्याप्रास में, व्यासदेव का आश्रम है। श्रील व्यासदेव गृहस्थ थे तो भी उनका निवासस्थान आश्रम कहलाता है। आश्रम वह स्थान है जहाँ आध्यात्मिक कार्यकलाप सर्वोपरि होता है, फिर चाहे वह स्थान किसी गृहस्थ का हो या तपस्वी का। सम्पूर्ण वर्णाश्रम पद्धति इस प्रकार नियोजित है कि जीवन की प्रत्येक अवस्था आश्रम कहलाती है। इसका अर्थ यह हुआ कि इन सबों में आध्यात्मिक संस्कृति एक सामान्य लक्षण है। ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यासी सारे एक ही जीवन-लक्ष्य, अर्थात् परमेश्वर के साक्षात्कार से सम्बन्धित हैं। अतएव जहाँ तक आध्यात्मिक संस्कृति की बात है, इनमें से कोई भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। अन्तर तो केवल वैराग्य के आधार पर औपचारिकता का होता है। संन्यासी अपने व्यावहारिक वैराग्य के बल पर ही सम्मान की दृष्टि से देखे जाते हैं।

तस्मिन् स्व आश्रमे व्यासो बदरीषण्डमण्डिते ।

आसीनोऽप उपस्पृश्य प्रणिदध्यौ मनः स्वयम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—उस; स्वे—अपनी; आश्रमे—कुटिया में; व्यासः—व्यासदेव; बदरी—बेर; षण्ड—वृक्ष; मण्डिते—से घिरा; आसीनः—बैठे हुए; अपः उपस्पृश्य—जल का स्पर्श करके; प्रणिदध्यौ—एकाग्र किया; मनः—मन को; स्वयम्—अपने आप में।

उस स्थान पर बेरी के वृक्षों से घिरे हुए अपने आश्रम में, श्रील वेदव्यास शुद्धि के लिए जल का स्पर्श करने के बाद ध्यान लगाने के लिए बैठ गये।

तात्पर्य : अपने गुरु श्रील नारद मुनि के आदेशानुसार व्यासदेव ने ध्यान के उस दिव्य स्थान में अपने मन को एकाग्र किया।

भक्तियोगेन मनसि सम्यक् प्रणिहितेऽमले ।
अपश्यत्पुरुषं पूर्णं मायां च तदपाश्रयम् ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

भक्ति—भक्तिमय सेवा; योगेन—संयुक्त होने की विधि द्वारा; मनसि—मन में; सम्यक्—पूर्ण रूप से; प्रणिहिते—संलग्न तथा स्थिर; अमले—निर्मल; अपश्यत्—देखा; पुरुषम्—भगवान् को; पूर्णम्—परम; मायाम्—शक्ति को; च—भी; तत्—उसके; अपाश्रयम्—पूर्ण वश में।

इस प्रकार उन्होंने भौतिकता में किसी लिप्तता के बिना, भक्तिमय सेवा (भक्तियोग) से बँधकर अपने मन को पूरी तरह एकाग्र किया। इस तरह उन्होंने परमेश्वर के पूर्णतः अधीन उनकी बहिरंगा शक्ति के समेत उनका दर्शन किया।

तात्पर्य : परम सत्य का सम्यक् दर्शन केवल भक्तियोग द्वारा ही किया जा सकता है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में भी हुई है। मनुष्य केवल भक्तिमय सेवा द्वारा ही पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की सही-सही अनुभूति प्राप्त कर सकता है और ऐसे पूर्ण ज्ञान के बल पर ही वह भगवद्धाम में प्रवेश कर सकता है। निराकार ब्रह्म या अन्तर्यामी परमात्मा के अपूर्ण ज्ञान से पूर्णब्रह्म की अधूरी प्रतीति करके कोई भगवद्धाम में प्रवेश नहीं पा सकता। श्रील नारद ने श्रील व्यासदेव को उपदेश दिया कि वे भगवान् तथा उनकी दिव्य लीलाओं के ध्यान में निमग्न हो जाएँ। श्रील व्यासदेव को ब्रह्मतेज नहीं दिखलाई पड़ा, क्योंकि यह पूर्ण दृष्टि नहीं है। पूर्ण दृष्टि तो भगवान् का व्यक्तित्व है, जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (७.१९) में हुई है : *वासुदेवःसर्वमिति। उपनिषदों* में भी इस बात की पुष्टि की गई है कि भगवान् वासुदेव निर्विशेष ब्रह्म के *हिरण्यमेन पात्रेण* द्वारा आच्छादित हैं और जब भगवत्कृपा से यह आवरण हटता है, तभी भगवान् का वास्तविक मुख का दर्शन होता है। परब्रह्म को यहाँ पर पुरुष या व्यक्ति कहा गया है। परम भगवान् का उल्लेख अनेक वैदिक ग्रंथों में हुआ है और *भगवद्गीता* में तो पुरुष की पुष्टि सनातन तथा आदि पुरुष के रूप में हुई है। भगवान् पूर्ण पुरुष हैं। परम पुरुष की अनेक शक्तियाँ होती हैं जिनमें से अन्तरंगा, बहिरंगा तथा तटस्था शक्तियाँ

विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हैं। यहाँ पर बहिरंगा शक्ति का वर्णन हुआ है जैसाकि उसके कार्यकलापों के वर्णनों से स्पष्ट हो जाएगा। अन्तरंगा शक्ति परम पुरुष के साथ उसी प्रकार बनी हुई रहती है, जिस प्रकार चाँद के साथ चाँदनी रहती है। बहिरंगा शक्ति की तुलना अंधकार से की गई है, क्योंकि यह जीवों को अज्ञान के अन्धकार में रखती है। *अपाश्रयम्* शब्द इस बात का सूचक है कि यह शक्ति पूर्ण रूप से भगवान् के वश में होती है। अन्तरंगा शक्ति या पराशक्ति *माया* भी कहलाती है, किन्तु यह आध्यात्मिक *माया* होती है अर्थात् परम जगत में ही यह प्रकट होती है। जब कोई इस अन्तरंगा शक्ति के आश्रय में आता है, तो भौतिक अज्ञान का अन्धकार तुरन्त दूर हो जाता है। यहाँ तक कि जो *आत्माराम* हैं, अर्थात् जो समाधिस्थ रहते हैं, वे भी इस *माया* या अन्तरंगा शक्ति का आश्रय ग्रहण करते हैं। भक्तिमय सेवा या भक्तियोग इसी अन्तरंगा शक्ति का कार्य है। इस प्रकार अपरा शक्ति या भौतिक शक्ति के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता, जिस प्रकार आध्यात्मिक प्रकाश के तेज के समक्ष अंधकार को कोई स्थान नहीं मिल पाता। ऐसी अन्तरंगा शक्ति निराकार ब्रह्म-बोध से मिलने वाले आध्यात्मिक आनन्द से भी बढ़कर है। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि निराकार ब्रह्म-तेज भी भगवान् श्रीकृष्ण के परम व्यक्तित्व से उद्भूत है। साक्षात् श्रीकृष्ण के अतिरिक्त अन्य कोई *परम पुरुष* नहीं हो सकता, जैसाकि आगे के श्लोकों में बताया जाएगा।

यया सम्मोहितो जीव आत्मानं त्रिगुणात्मकम् ।

परोऽपि मनुतेऽनर्थं तत्कृतं चाभिपद्यते ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

यया—जिससे; सम्मोहितः—मोहग्रस्त; जीवः—जीवात्माएँ; आत्मानम्—स्व; त्रि-गुण-आत्मकम्—प्रकृति के तीनों गुणों से बद्ध अथवा पदार्थ का फल; परः—दिव्य; अपि—के होते हुए भी; मनुते—मान लेता है; अनर्थम्—अनचाही वस्तुएँ; तत्—उससे; कृतम् च—प्रतिक्रिया; अभिपद्यते—भोगता है।

जीवात्मा तीनों गुणों से अतीत होते हुए भी इस बहिरंगा शक्ति के कारण अपने आप को भौतिक पदार्थ की उपज मानता है और इस प्रकार भौतिक कष्टों के फलों को भोगता है।

तात्पर्य : यहाँ पर भौतिकतावादी जीवों के कष्ट का मूल कारण तथा उसके उपाय के रूप में जो कार्य प्राप्त करनी चाहिए, उसके बारे में बतलाया गया है। इन सबका उल्लेख इस श्लोक में हुआ है। जीवात्मा स्वाभाविक रूप से भौतिक पाश से परे है, किन्तु अभी वह बहिरंगा शक्ति द्वारा बन्दी बना लिया गया है अतएव वह अपने आपको भौतिक पदार्थ की उपजों में से एक मानता है। अतएव इस अपवित्र सम्पर्क से विशुद्ध आध्यात्मिक जीव भौतिक प्रकृति के गुणों के अधीन कष्ट सहता है। जीवात्मा भ्रमवश अपने को भौतिक पदार्थ मान बैठता है। इसका अर्थ यह हुआ कि भौतिक स्थिति के बस में होने के कारण उसके सोचने, अनुभव करने तथा चाहने की वर्तमान विकृत विधि उसके लिए स्वाभाविक नहीं है। तो भी सोचने, अनुभव करने तथा चाहने का उसका अपना सामान्य तरीका होता है। जीव अपनी मूल अवस्था में सोचने, अनुभव करने तथा चाहने की शक्ति से रहित नहीं होता। *भगवद्गीता* में भी पुष्टि हुई है कि बद्धजीव का वास्तविक ज्ञान, अज्ञान से ढका रहता है। इस प्रकार यहाँ इस सिद्धान्त का खण्डन हो जाता है कि जीवात्मा परम निराकार ब्रह्म है। ऐसा हो नहीं सकता क्योंकि जीवात्मा की अपनी मूल अबद्ध अवस्था में भी अपनी चिन्तन शैली होती है। वर्तमान बद्ध- अवस्था बहिरंगा शक्ति के प्रभाव के कारण है जिसका अर्थ यह है कि परमेश्वर पृथक् रहते आते हैं और मोहमयी शक्ति (माया) पहल करती है। भगवान् कभी नहीं चाहते कि जीवात्मा बहिरंगा शक्ति द्वारा भरमाया जाए। बहिरंगा शक्ति भी इस तथ्य से भलीभाँति परिचित है, किन्तु वह अपनी मोहनी शक्ति से विस्मृत जीव को भरमाये रखने का अकृतज्ञ कार्य करती है। भगवान् भ्रामिका शक्ति के कार्य में कोई बाधा नहीं डालते, क्योंकि उसके ये कार्य बद्धजीव को सुधारने के लिए आवश्यक होते हैं। कोई स्नेहिल पिता नहीं चाहता कि अन्य कोई व्यक्ति उसकी सन्तान को प्रताड़ित करे, तो भी वह अपने उदंड पुत्र को सुधारने के लिए कठोर व्यक्ति के संरक्षण में सौंप देता है। लेकिन साथ ही, सर्व-स्नेहिल सर्वशक्तिमान पिता बद्धजीवों को भ्रामिका शक्ति (माया) के चंगुल से छुटकारा दिलाने के लिए उत्सुक रहते हैं। राजा अवज्ञाकारी नागरिकों को बन्दीगृह की चारदीवारी के भीतर डाल देता है, लेकिन कभी-कभी बन्दी को राहत देने की इच्छा से वह स्वयं बन्दीगृह में जाता है और उनसे

सुधरने के लिए कहता है और उसके ऐसा करने पर वह बन्दी को मुक्त कर देता है। इसी प्रकार परमेश्वर अपने राज्य से भ्रामिका शक्ति के राज्य में अवतरित होकर *भगवद्गीता* के रूप में राहत देते हैं, जहाँ पर वे व्यक्तिगत रूप से सुझाव देते हैं कि यद्यपि भ्रामिका शक्ति पर विजय पाना दुष्कर है, तो भी यदि कोई भगवान् के चरणकमलों की शरण में आता है, तो भगवान् के आदेश से वह मुक्त हो जाता है। शरणागति की यह विधि माया के भ्रामक प्रभाव से छुटकारा पाने का उपाय है। अतः भगवान् का सुझाव है कि सन्त पुरुषों की वाणी के प्रभाव से, जिन्होंने वास्तव में परम की अनुभूति कर ली है, वे लोग भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में संलग्न हों। बद्धजीव को भगवान् के विषय में सुनने में आस्वाद मिलने लगता है और इस प्रकार श्रवण करने से ही वह भगवान् के प्रति आदर, भक्ति तथा आसक्ति के पद तक ऊपर उठ जाता है। शरणागति विधि से सभी कुछ पूरा हो जाता है। यहाँ पर व्यासदेव के अवतार रूप में भगवान् ने यही सुझाव रखा है। इसका अर्थ यह हुआ कि भगवान् द्वारा बद्धजीवों का दोनों प्रकार से उद्धार किया जाता है—एक तो भगवान् की बहिरंगा शक्ति के द्वारा दण्डित होकर तथा दूसरी ओर भगवान् द्वारा अन्तस्थ और बाह्य गुरु बनकर। भगवान् प्रत्येक जीव के अन्तःकरण में परमात्मा रूप में गुरु बनते हैं और बाहर से वे शास्त्रों, सन्तों तथा दीक्षा- गुरु के रूप में गुरु बनते हैं। अगले श्लोक में इसकी अधिक स्पष्ट व्याख्या की गई है।

वेदों में (केनोपनिषद् में) देवताओं की नियन्त्रक शक्ति के सम्बन्ध में भ्रामिका शक्ति के व्यक्तिगत अधीक्षण की पुष्टि की गई है। यहाँ पर भी यह स्पष्ट कहा गया है कि जीवात्मा बहिरंगा शक्ति द्वारा व्यक्तिगत सामर्थ्य में नियन्त्रित होता है। इस प्रकार जो जीव बहिरंगा शक्ति के नियन्त्रण में आ जाता है वह भिन्न रूप से अवस्थित होता है। फिर भी *भागवत* के इस कथन से यह स्पष्ट है कि वही बहिरंगा शक्ति, पूर्ण पुरुष भगवान् के समक्ष, निकृष्ट स्थित पर रहती है। पूर्ण व्यक्ति या भगवान् तक भ्रामिका शक्ति पहुँच भी नहीं पाती, क्योंकि वह केवल जीवों पर ही अपना कार्य कर पाती है। अतएव यह तो मात्र कल्पना है कि भगवान् भ्रामिका शक्ति द्वारा भ्रमित होते हैं और बाद में जीव बन जाते हैं। यदि भगवान् तथा जीव एक ही श्रेणी में होते, तो व्यासदेव के लिए इसे

देख पाना सम्भव होता और भ्रमित जीवों के भौतिक दुख का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि परमेश्वर सब कुछ जानते हैं। अतएव अनेक अद्वैतवादियों द्वारा भगवान् तथा जीव को एक ही श्रेणी में रखने का प्रयास छिछोरी कल्पनाएँ मात्र हैं। यदि भगवान् तथा जीव एक से ही होते, तो श्रील शुकदेव गोस्वामी भगवान् की दिव्य लीलाओं का वर्णन करने का कष्ट न उठाते, क्योंकि ये सब भ्रामिका शक्ति की अभिव्यक्तियाँ होतीं।

श्रीमद्भागवत माया के चंगुल में कष्ट पाने वाली मानवता के लिए रामबाण उपचार है। अतएव श्रील व्यासदेव ने सर्वप्रथम बद्धजीवों के वास्तविक रोग का निदान किया, जो है बहिरंगा शक्ति द्वारा भ्रमित होना। उन्होंने उन पूर्ण परम पुरुष के भी दर्शन किये, जिनसे भ्रामिका शक्ति बहुत दूर रहती है, यद्यपि उन्होंने रुग्ण बद्धजीवों तथा रोग के कारण दोनों को देखा। रोग के उपचार की विधियाँ अगले श्लोक में सुझाई गई हैं। निस्सन्देह भगवान् तथा जीव दोनों ही गुणवत्ता की दृष्टि से समान हैं, लेकिन भगवान् भ्रामिका शक्ति के नियन्ता हैं, जबकि जीव इसी भ्रामिका शक्ति द्वारा नियन्त्रित होते हैं। इस प्रकार भगवान् तथा जीव एकसाथ अभिन्न तथा भिन्न हैं। दूसरा अन्तर इस प्रकार है—भगवान् तथा जीव के बीच का सनातन सम्बन्ध दिव्य है, अन्यथा वे माया के चंगुल से बद्धजीवों का उद्धार करने का कष्ट न लेते। इसी प्रकार से जीव को भी भगवान् के प्रति अपने प्राकृतिक प्रेम तथा स्नेह को जगाने की आवश्यकता रहती है और जीव की यही सर्वोच्च पूर्णता है। जीवन के इसी लक्ष्य को ध्यान में रखकर *श्रीमद्भागवत* में बद्धजीवों का वर्णन हुआ है।

अनर्थोपशमं साक्षाद्भक्तियोगमधोक्षजे ।

लोकस्याजानतो विद्वांश्चक्रे सात्वतसंहिताम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

अनर्थ—फालतू चीजें; उपशमम्—बहिष्कार, निवारण; साक्षात्—प्रत्यक्ष; भक्ति-योगम्—भक्ति को जोड़ने की विधि; अधोक्षजे—दिव्य को; लोकस्य—सामान्य लोगों का; अजानतः—न जानने वाले; विद्वांश्चक्रे—प्रकाण्ड पंडित; चक्रे—संकलन किया; सात्वत—परम सत्य के प्रसंग में; संहिताम्—वैदिक साहित्य।

जीव के भौतिक कष्ट, जिन्हें वह अनर्थ समझता है, भक्तियोग द्वारा प्रत्यक्ष रूप से कम किये जा सकते हैं। किन्तु अधिकांश जन इसे नहीं जानते; इसलिए विद्वान व्यासदेव ने इस वैदिक साहित्य का संकलन किया है, जिसका सम्बन्ध परम सत्य से है।

तात्पर्य : श्रील व्यासदेव ने परम पूर्ण भगवान् को देखा। इस कथन से यह सुझाव मिलता है कि भगवान् की पूर्ण इकाई में उनके अंश-प्रत्यंश भी सम्मिलित रहते हैं। अतएव उन्होंने उनकी विभिन्न शक्तियों को अर्थात् अन्तरंगा, तटस्था तथा बहिरंगा शक्तियों को देखा। उन्होंने उनके पूर्ण अंश तथा इनके भी अंशों अर्थात् उनके विभिन्न अवतारों को भी देखा और उन्होंने विशेष रूप से बहिरंगा शक्ति से मोहग्रस्त बद्धजीवों के अवाञ्छित कष्टों को देखा। अन्त में उन्होंने बद्धजीवों के उपचार को भी देखा, जो भक्तियोग है। यह एक महान् दिव्य विज्ञान है और भगवान् के नाम, यश, कीर्ति आदि के श्रवण तथा कीर्तन से प्रारम्भ होता है। सुप्त ईश्वर-प्रेम की पुनर्जागृति केवल श्रवण तथा कीर्तन की यांत्रिक पद्धति पर अवलम्बित नहीं होती, अपितु पूर्ण रूप से केवल भगवान् की अहैतुकी कृपा पर निर्भर करती है। जब भगवान् भक्त की निष्ठा से पूर्ण रूप से प्रसन्न होते हैं, तब वे उसे दिव्य प्रेममय सेवा प्रदान कर सकते हैं। लेकिन श्रवण तथा कीर्तन की संस्तुत विधियों से भी भौतिक जगत के व्यर्थ तथा अवाञ्छित दुखों को तुरन्त कम किया जा सकता है। भौतिक आसक्ति का इस तरह दूर होना दिव्य ज्ञान के विकसित होने की प्रतीक्षा नहीं करता, अपितु ज्ञान परम सत्य की चरम अनुभूति के लिए भक्तिमय सेवा पर निर्भर होता है।

यस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परमपूरुषे ।

भक्तिरुत्पद्यते पुंसः शोकमोहभयापहा ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

यस्याम्—यह वैदिक साहित्य; वै—निश्चय ही; श्रूयमाणायाम्—मात्र श्रवण करने से; कृष्णे—भगवान् कृष्ण में; परम—परम; पूरुषे—भगवान् में; भक्तिः—भक्ति की भावनाएँ; उत्पद्यते—अंकुरित होते हैं; पुंसः—जीव का; शोक—संताप; मोह—मोह; भय—डर; अपहा—भगाने वाला, नष्ट करने वाला ।

इस वैदिक साहित्य के श्रवण मात्र से पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण की प्रेमा भक्ति की भावना तुरन्त अंकुरित होती है, जो शोक, मोह तथा भय की अग्नि को तुरन्त बुझा देती है।

तात्पर्य : इन्द्रियाँ तो अनेक हैं, लेकिन इनमें से कान सर्वाधिक प्रभावशाली है। यह इन्द्रिय प्रगाढ़ निद्रा के समय भी कार्य करती है। मनुष्य जागृत रहते हुए शत्रु से अपनी रक्षा कर सकता है, लेकिन निद्राधीन होने पर केवल कान ही रक्षा करते हैं। यहाँ पर जीवन की सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त करने के सम्बन्ध में श्रवण का महत्त्व बताया गया है, जो है तीनों भौतिक तापों से मुक्ति। प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक क्षण शोकसन्तप्त रहता है, वह भ्रामक वस्तुओं की मृगमरीचिका के पीछे दौड़ता रहता है और अपने कल्पनिक शत्रु से सदैव भयभीत रहता है। भौतिक रोग के ये मूलभूत लक्षण हैं। यहाँ पर यह स्पष्ट सुझाव है कि केवल *श्रीमद्भागवत* का सन्देश सुनने से ही, भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति अनुरक्ति उत्पन्न हो जाती है और ऐसा होते ही भव रोग के लक्षण दूर हो जाते हैं। श्रील व्यासदेव ने परम पूर्ण भगवान् को देखा था और इस कथन से भगवान् श्रीकृष्ण के परम पूर्ण व्यक्तित्व की स्पष्ट पुष्टि होती है।

भक्तिमय सेवा का अन्तिम फल भगवान् के प्रति सच्चा प्रेम उत्पन्न करना है। प्रेम शब्द ऐसा है जो प्रायः स्त्री तथा पुरुष के सम्बन्ध को व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त किया जाता है। किन्तु प्रेम ही एकमात्र ऐसा शब्द है, जिससे भगवान् कृष्ण तथा जीवों के बीच के सम्बन्ध को समुचित ढंग से व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है। *भगवद्गीता* में जीवों को *प्रकृति* कहा गया है और संस्कृत में *प्रकृति* शब्द स्त्रीवाचक है। भगवान् को सदैव *परम पुरुष* या *सर्वोपरि पुरुषवाचक व्यक्तित्व* कहा जाता है। अतएव भगवान् तथा जीवों के बीच का प्रेम लगभग पुरुष तथा स्त्री के बीच के प्रेम जैसा है। अतएव ईश्वर-प्रेम शब्द अत्यन्त उपयुक्त है।

भगवान् की प्रेमाभक्ति भगवान् के विषय में श्रवण करने से प्रारम्भ होती है। भगवान् तथा उनके विषय में सुनी गई विषय-वस्तु में कोई अन्तर नहीं होता। भगवान् सभी प्रकार से पूर्ण हैं, और इस प्रकार उनमें तथा उनके विषय में सुनी गई विषय-वस्तु में कोई अन्तर नहीं है। अतएव

उनके विषय में श्रवण करने का अर्थ है दिव्य शब्द के उच्चारण की प्रक्रिया के द्वारा उनसे त्वरित सम्पर्क होना और यह दिव्य शब्द ध्वनि इतनी प्रभावशाली होती है कि वह उपर्युक्त समस्त भौतिक प्रभावों को दूर करके तुरन्त असर दिखाती है। जैसाकि पहले कहा जा चुका है, जीवात्मा भौतिक संगति के द्वारा एक प्रकार की जटिलता (उलझन) उत्पन्न कर लेता है और भौतिक देह के भ्रामक बन्धन को वास्तविक तथ्य के रूप में स्वीकार करने लगता है। ऐसी झूठी जटिलता के कारण ही विभिन्न योनियों के जीव भिन्न-भिन्न माध्यमों से मोहित होते रहते हैं। यहाँ तक कि मनुष्य जीवन की सर्वाधिक विकसित अवस्था में भी वही मोह (भ्रम) अनेक प्रकार के *वादों* के रूप में चलता रहता है और भगवान् के साथ प्रेममय सम्बन्ध को विभाजित करता है और इस तरह मनुष्य-मनुष्य के बीच के प्रेममय सम्बन्ध भी बँट जाते हैं। *श्रीमद्भागवत* की कथा सुनने से भौतिकता की यह झूठी जटिलता दूर हो जाती है और समाज में वास्तविक शान्ति का शुभारम्भ होता है, जिसकी कामना राजनेताओं द्वारा अनेक राजनीतिक परिस्थितियों में बड़ी उत्सुकता से की जाती है। सारे राजनेता मनुष्य तथा मनुष्य, राष्ट्र तथा राष्ट्र के बीच शान्तिपूर्ण स्थिति की कामना करते रहते हैं, लेकिन साथ ही साथ भौतिक प्रभुता के प्रति अत्यधिक आसक्ति होने के कारण उनमें मोह तथा भयग्रस्तता बनी रहती है। अतएव राजनेताओं के शान्ति सम्मेलनों से समाज में शान्ति स्थापित नहीं की जा सकती। इसकी स्थापना तो *श्रीमद्भागवत* में वर्णित पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण की कथा के श्रवण मात्र से ही की जा सकती है। ये मूर्ख राजनेता भले ही सदियों तक शान्ति तथा शिखर सम्मेलन क्यों न करते रहें, लेकिन वे इसे प्राप्त करने में विफल ही रहेंगे। जब तक हम कृष्ण के साथ अपने विसरे सम्बन्ध की पुनः स्थापना नहीं कर लेते, तब तक शरीर को स्वः मानने का मोह (भ्रम) बना रहेगा और इस तरह भयग्रस्तता भी बनी रहेगी। जहाँ तक पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के रूप में श्रीकृष्ण की वैधता का प्रश्न है, शास्त्रों में ऐसे सैकड़ों और हजारों साक्ष्य उपलब्ध हैं और वृन्दावन, नवद्वीप तथा पुरी जैसे विभिन्न स्थानों के भक्तों के निजी अनुभवों से सैकड़ों और हजारों प्रमाण मिलते हैं। *कौमुदी* कोश में भी कृष्ण के पर्यायवाची शब्दों में यशोदानन्दन तथा परब्रह्म पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् दिये गये हैं। निष्कर्ष यह है कि वैदिक

साहित्य *श्रीमद्भागवत* के श्रवण मात्र से ही पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण से प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित हो जाता है जिससे मनुष्य सांसारिक दुख, मोह तथा भय को लाँध करके जीवन की परम सिद्धि प्राप्त कर सकता है। जिसने वास्तविक रूप में विनीत भाव से *श्रीमद्भागवत* का पाठ सुना है, उसके लिए ये व्यावहारिक परीक्षाएँ हैं।

स संहितां भागवतीं कृत्वानुक्रम्य चात्मजम् ।

शुकमध्यापयामास निवृत्तिनिरतं मुनिः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; संहिताम्—वैदिक साहित्य; भागवतीम्—भगवान् से सम्बन्धित; कृत्वा—करके; अनुक्रम्य—शुद्धि तथा आवृत्ति द्वारा; च—तथा; आत्म-जम्—अपने पुत्र; शुकम्—शुकदेव गोस्वामी को; अध्यापयाम् आस—पढ़ाया; निवृत्ति—आत्म-साक्षात्कार का मार्ग; निरतम्—संलग्न; मुनिः—मुनि ने।

श्रीमद्भागवत का संकलन कर लेने तथा उसे संशोधित करने के बाद महर्षि व्यासदेव ने इसे अपने पुत्र श्री शुकदेव गोस्वामी को पढ़ाया, जो पहले से ही आत्म-साक्षात्कार में निरत थे।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* व्यास देव द्वारा ही संकलित *ब्रह्म-सूत्र* का सहज भाष्य है। यह *ब्रह्म-सूत्र* या *वेदान्त-सूत्र* उन लोगों के निमित्त है, जो पहले से आत्म-साक्षात्कार में निरत हैं। *श्रीमद्भागवत* इस तरह रचा गया है कि इसकी कथाएँ सुनते ही मनुष्य आत्म-साक्षात्कार के मार्ग में तुरन्त प्रवृत्त हो जाता है। यद्यपि यह मूल रूप से परमहंसों अर्थात् आत्म-साक्षात्कार में पूर्णरूपेण संलग्न व्यक्तियों के लिए है, लेकिन यह संसारी व्यक्तियों के हृदयों में गहराई तक प्रविष्ट होकर प्रभाव डालता है। सारे संसारी व्यक्ति इन्द्रियतृप्ति में लगे हुए हैं। लेकिन ऐसे लोग भी इस वैदिक साहित्य में अपने भवरोगों के निवारक उपचार पाते हैं। शुकदेव गोस्वामी अपने जन्म काल से ही मुक्त जीव थे और उनके पिता ने उन्हें *श्रीमद्भागवत* पढ़ाया। संसारी विद्वानों में *श्रीमद्भागवत* के संकलन के काल को लेकर मतभेद है। तथापि *श्रीमद्भागवत* के मूल पाठ से यह निश्चित है कि इसका संकलन राजा परीक्षित के तिरोधान के पूर्व और भगवान् कृष्ण के प्रयाण के पश्चात् हुआ था। जब राजा परीक्षित भारतवर्ष के सम्राट के रूप में राज्य कर रहे थे, तब उन्होंने

मूर्तिमंत कलि को दण्डित किया। प्राधिकृत शास्त्रों तथा ज्योतिष गणना के अनुसार, कलियुग अपने पाँच हजारवें वर्ष में है। अतः श्रीमद्भागवत कम से कम पाँच हजार वर्ष पूर्व संकलित हुआ था। महाभारत का संकलन श्रीमद्भागवत के पूर्व हो चुका था और सारे पुराण महाभारत के पूर्व संकलित हो चुके थे। यह है विभिन्न वैदिक ग्रंथों के संकलन काल का एक आकलन। श्रीमद्भागवत की रूपरेखा नारद के निर्देशानुसार पहले ही तैयार हो चुकी थी। श्रीमद्भागवत निवृत्ति मार्ग पर अग्रसर होने का विज्ञान है। नारद ने प्रवृत्ति मार्ग का तिरस्कार किया था। यह मार्ग समस्त बद्धजीवों की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। श्रीमद्भागवत की विषयवस्तु मानव जाति के भवरोग का, या संसार के तापों को पूर्ण रूप से रोकने का, उपचार है।

शौनक उवाच

स वै निवृत्तिनिरतः सर्वत्रोपेक्षको मुनिः ।

कस्य वा बृहतीमेतामात्मारामः समभ्यसत् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

शौनकः उवाच—श्री शौनक ने पूछा; सः—वह; वै—निश्चय ही; निवृत्ति—आत्म-साक्षात्कार के पथ पर; निरतः—सदैव लगा हुआ; सर्वत्र—सभी प्रकार से; उपेक्षकः—उदासीन; मुनिः—मुनि; कस्य—किस कारण से; वा—अथवा; बृहतीम्—विशाल; एताम्—इस; आत्म-आरामः—अपने आप में प्रसन्न रहने वाला; समभ्यसत्—अध्ययन किया।

श्री शौनक ने सूत गोस्वामी से पूछा : शुक्रदेव गोस्वामी तो पहले से ही निवृत्ति मार्ग पर चले रहे थे और इस तरह वे अपने आप में प्रसन्न थे। तो फिर उन्होंने ऐसे बृहत् साहित्य का अध्ययन करने का कष्ट क्यों उठाया ?

तात्पर्य : सामान्य लोगों के लिए जीवन की चरम सिद्धि भौतिक कार्यकलापों को बन्द करके आत्म-साक्षात्कार के पथ (निवृत्ति मार्ग) पर स्थिर होने में है। जो लोग इन्द्रियभोग में सुख पाते हैं या जो भौतिक शारीरिक कल्याण के कार्य में स्थिर हैं, वे कर्मी कहलाते हैं। ऐसे हजारों तथा लाखों कर्मीयों में से कोई एक कर्मी आत्म-साक्षात्कार द्वारा आत्माराम बन पाता है। आत्म का अर्थ है स्व तथा आराम का अर्थ है सुख पाना। प्रत्येक व्यक्ति उच्चतम सुख की खोज में लगा रहता है, लेकिन इस सुख का मानदण्ड व्यक्ति-व्यक्ति के साथ अलग-अलग हो सकता है।

अतएव कर्मियों द्वारा भोगा गया आदर्श सुख आत्मारामों के आदर्श सुख से भिन्न होता है। आत्माराम हर तरह से भौतिक भोग के प्रति अन्यमनस्क रहते हैं। श्रील शुकदेव गोस्वामी ने यह अवस्था पहले से ही प्राप्त कर ली थी, तो भी उन्होंने इस बृहत् भागवत ग्रंथ का अध्ययन करने का कष्ट उठाया। इसका अर्थ यह है कि श्रीमद्भागवत उन आत्मारामों के लिए भी स्नाकतोत्तर अध्ययन का विषय है, जिन्होंने समस्त वैदिक ज्ञान का अध्ययन कर लिया हो।

सूत उवाच

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे ।

कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; आत्मारामाः—जिन्हें आत्मा में सुख मिलता है वे; च—भी; मुनयः—मुनिगण; निर्ग्रन्थाः—समस्त बन्धनों से मुक्त; अपि—होने पर भी; उरुक्रमे—महान् साहसिक में; कुर्वन्ति—करते हैं; अहैतुकीम्—अनन्य, अमिश्रित; भक्तिम्—भक्ति; इत्थम्—भूत—ऐसे आश्चर्यमय; गुणः—गुण; हरिः—हरि के।

जो आत्मा में आनन्द लेते हैं, ऐसे विभिन्न प्रकार के आत्माराम और विशेष रूप से जो आत्म-साक्षात्कार के पथ पर स्थापित हो चुके हैं, ऐसे आत्माराम यद्यपि समस्त प्रकार के भौतिक बन्धनों से मुक्त हो चुके हैं, फिर भी भगवान् की अनन्य भक्तिमय सेवा में संलग्न होने के इच्छुक रहते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि भगवान् में दिव्य गुण हैं, अतएव वे मुक्तात्माओं सहित प्रत्येक व्यक्ति को आकृष्ट कर सकते हैं।

तात्पर्य : भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु ने अपने प्रमुख भक्त श्रील सनातन गोस्वामी के समक्ष इस आत्माराम श्लोक की व्याख्या अत्यन्त विशद रूप में की। उन्होंने इस श्लोक में ग्यारह तत्त्वों का संकेत किया है। ये हैं (१) आत्माराम, (२) मुनयः, (३) निर्ग्रन्थ, (४) अपि, (५) च, (६) उरुक्रम, (७) कुर्वन्ति, (८) अहैतुकीम्, (९) भक्तिम्, (१०) इत्थम्-भूत-गुणः तथा (११) हरिः। विश्व-प्रकाश संस्कृत कोश के अनुसार, आत्माराम शब्द के सात पर्याय हैं जो इस प्रकार हैं (१) ब्रह्म (परम सत्य), (२) शरीर, (३) मन, (४) प्रयत्न, (५) सहिष्णुता, (६) बुद्धि तथा (७) (व्यक्तिगत) आदतें।

मुनयः शब्द का प्रयोग इन अर्थों में होता है—(१) जो विचारवान हैं, (२) जो गम्भीर तथा शान्त हैं (३) तपस्वी, (४) जो हठ हैं, (५) परिव्राजक, (६) ऋषि तथा (७) साध-सन्त।

निर्ग्रन्थ शब्द से निम्नलिखित भावों का वहन होता है (१) जो अविद्या से मुक्त हैं, (२) जिसका शास्त्रीय आदेशों से कोई सम्बन्ध नहीं है अर्थात् जिसे नीति ग्रन्थो, वेदों, दर्शन, मनोविज्ञान तथा तत्त्वज्ञान आदि में वर्णित विधि-विधानों के पालन करने की विवशता नहीं है (दूसरे शब्दों में मूर्ख, अशिक्षित, बदमाश आदि जिन्हें विधि-विधानों से सम्बन्ध नहीं होता), (३) पूँजीपति तथा (४) निर्धन भी।

शब्दकोश के अनुसार, *नि* उपसर्ग का प्रयोग (१) निश्चितता, (२) गणना, (३) निर्माण तथा (४) निषेध के लिए होता है और *ग्रन्थ* शब्द धन, पुस्तक, शब्दकोश आदि के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

उरुक्रम शब्द का अर्थ है, “वह जिसके कार्यकलाप महिमामण्डित हैं।” *क्रम* का अर्थ है, पग या कदम। *उरुक्रम* शब्द विशेष रूप से भगवान् के वामन अवतार का सूचक है, जिन्होंने अपने अमाप्य पगों से सारे ब्रह्माण्ड को नाप लिया। भगवान् विष्णु शक्तिमान हैं और उनके कार्यकलाप इतने महिमामय हैं कि उन्होंने अपनी अन्तरंगा शक्ति से आध्यात्मिक जगत की तथा बहिरंगा शक्ति से इस भौतिक जगत की सृष्टि की है। अपने सर्वव्यापक पक्ष के कारण वे परम सत्य के रूप में सर्वत्र विद्यमान हैं और अपने वैयक्तिक रूप में वे सदैव अपने गोलोक वृन्दावन धाम में उपस्थित रहते हैं, जहाँ पर वे अत्यन्त विविधतामयी दिव्य लीलाओं का प्रदर्शन करते हैं। उनके कार्यकलापों की तुलना अन्य किसी से नहीं की जा सकती, अतएव *उरुक्रम* शब्द उन्हीं को शोभा देता है।

संस्कृत क्रिया-व्यवस्था के अनुसार, *कुर्वन्ति* का अर्थ है किसी अन्य के लिए काम करना। इसका अर्थ यह हुआ कि *आत्माराम* भगवान् की भक्तिमय सेवा अपने स्वार्थवश नहीं, अपितु भगवान् *उरुक्रम* की प्रसन्नता के लिए करते हैं।

हेतु का अर्थ है “कारण।” मनुष्य की इन्द्रियतुष्टि के अनेक कारण हो सकते हैं और उनका वर्गीकरण भौतिक भोग, योग शक्ति तथा मुक्ति के रूप में किया जा सकता है जिसकी कामना सामान्य रूप से सारे प्रगतिशील व्यक्ति करते हैं। जहाँ तक भौतिक भोगों का प्रश्न है, भोग तो अनेक हैं और भौतिकतावादी उनकी संख्या और भी बढ़ाते रहने के लिए उत्सुक रहते हैं, क्योंकि वे माया के वश में होते हैं। भौतिक भोगों का न तो कोई अन्त है, न ही कोई व्यक्ति भौतिक जगत में इन सारे भोगों को पा सकता है। जहाँ तक योग शक्तियों का प्रश्न है, उनकी संख्या आठ है (जैसे कि अपने रूप को अत्यन्त छोटा बना देना, भाररहित बनना, इच्छानुसार की वस्तु प्राप्त करना, भौतिक प्रकृति पर प्रभुत्व जताना, अन्य जीवों को नियंत्रित करना, ग्रह की रचना करना इत्यादि)। इन योग शक्तियों का उल्लेख *भागवत* में हुआ है। मोक्ष के पाँच प्रकार हैं।

अतः अनन्य भक्ति का अर्थ है उपर्युक्त व्यक्तिगत लाभों की आकांक्षा से रहित होकर भगवान् की सेवा करना। सर्वशक्तिमान भगवान् श्रीकृष्ण समस्त प्रकार के व्यक्तिगत लाभों से मुक्त ऐसे अनन्य भक्तों द्वारा पूर्ण रूप से प्रसन्न हो सकते हैं।

भगवान् की अनन्य भक्तिमय सेवा विभिन्न अवस्थाओं से होकर प्रगति करती है। भौतिक क्षेत्र में भक्ति के अभ्यास के ८१ विभिन्न गुण हैं और इन सबके ऊपर भक्ति का दिव्य अभ्यास होता है, जो एक है और *साधन-भक्ति* कहलाता है। जब *साधन-भक्ति* का अनन्य अभ्यास भगवान् के दिव्य प्रेम में परिपक्व होने लगता है, तो भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति नौ अवस्थाओं में क्रमशः विकसित होने लगती है। ये हैं—आसक्ति, प्रेम, स्नेह, अनुभाव, प्रणय, राग, अनुराग, भाव तथा वियोग (विरहानुभूति)।

निष्क्रिय भक्त की आसक्ति भगवान् के प्रति दिव्य प्रेम की अवस्था तक बढ़ती है। सक्रिय सेवक की आसक्ति राग अवस्था तक और सखा-भक्त की अनुभाव अवस्था तक बढ़ती है। यही हाल मातृ-पितृ भक्तों का है। माधुर्य प्रेम में भक्तगण विरहावस्था तक भाव को बढ़ाते हैं। भगवान् की अनन्य भक्ति के ये कुछ लक्षण हैं।

हरि-भक्ति-सुधोदय के अनुसार, इत्थम्-भूत शब्द का आशय “पूर्ण आनन्द” है। निराकार ब्रह्म की अनुभूति से प्राप्त दिव्य आनन्द की तुलना बछड़े के गो खुर से बने गड्ढे में आने वाले रंचमात्र जल से की जा सकती है। भगवान् के दर्शन रूपी आनन्द के सागर की तुलना में यह तुच्छ है। भगवान् श्रीकृष्ण का व्यक्तिगत रूप इतना आकर्षक है कि यह अपने में समस्त आकर्षण, समस्त आनन्द तथा समस्त रसों को सँजोये है। ये आकर्षण इतने प्रबल हैं कि कोई भी व्यक्ति इनका विनिमय भौतिक भोग, योगशक्ति तथा मुक्ति से नहीं करना चाहता। इस कथन के समर्थन के लिए किसी तर्क की आवश्यकता नहीं है, किन्तु मनुष्य अपने स्वभाव से ही भगवान् कृष्ण के गुणों के प्रति आकृष्ट होता है। हमें यह भलीभाँति जान लेना चाहिए कि भगवान् के गुणों का लौकिक गुणों से कोई सरोकार नहीं होता। वे सभी आनन्द, ज्ञान तथा शाश्वतता से परिपूर्ण होते हैं। भगवान् के गुण असंख्य हैं। कोई किसी गुण से आकृष्ट होता है तो दूसरा किसी अन्य गुण से।

सनक, सनातन, सनन्द तथा सनत्कुमार नामक चारों ब्रह्मचारी भक्त भगवान् के चरणकमलों पर अर्पित फूलों की सुगन्ध तथा चन्दनयुक्त तुलसी दल से आकृष्ट हुए थे। इसी प्रकार शुकदेव गोस्वामी भगवान् की दिव्य लीलाओं से आकृष्ट हुए थे। शुकदेव गोस्वामी पहले से मुक्त अवस्था को प्राप्त थे, फिर भी वे भगवान् की लीलाओं से आकृष्ट हुए। इससे यह सिद्ध होता है कि भगवान् की लीलाओं की गुणवत्ता को भौतिक संसर्ग से कुछ लेना-देना नहीं होता। इसी प्रकार तरुणी गोप कुमारियाँ भगवान् के शारीरिक लक्षणों से आकृष्ट हुईं और रुक्मिणी भगवान् की महिमा का श्रवण करके आकृष्ट हुईं। भगवान् कृष्ण भाग्य की देवी (लक्ष्मी) के भी मन को आकृष्ट करने वाले हैं। विशेष परिस्थितियों में वे समस्त तरुणियों के मन को मोहित करते हैं। वे वयस्क महिलाओं के मनों को मातृ-स्नेह के रूप में आकर्षित करते हैं। वे पुरुष के मन को सेवक तथा सखा-भाव में आकृष्ट करते हैं।

हरि शब्द के अनेक अर्थ हैं, लेकिन इसका मुख्य आशय यह है कि भगवान् सारी अशुभ वस्तुओं को नष्ट करते हैं और भक्त के मन को शुद्ध दिव्य प्रेम प्रदान करके हर लेते हैं। घोर कष्ट

में होने पर भगवान् का स्मरण करने से मनुष्य के सारे दुख तथा चिन्ताएँ दूर हो जाती हैं। भगवान् शुद्ध भक्त के भक्ति मार्ग के सारे अवरोधों को क्रमशः दूर कर देते हैं और श्रवण, कीर्तन आदि नवधा भक्ति का फल प्रकट होने लगता है।

भगवान् अपने व्यक्तिगत रूप तथा दिव्य लक्षणों से शुद्ध भक्त के सारे मनोवैज्ञानिक कार्यकलापों को आकृष्ट करते हैं। ऐसी होती है कृष्ण की आकर्षण शक्ति। यह आकर्षण इतना प्रबल होता है कि शुद्ध भक्त धर्म के चारों सिद्धान्तों में से एक की भी लालसा नहीं करता। ये हैं भगवान् के दिव्य लक्षणों के आकर्षक गुण। इनके साथ *अपि* तथा *च* शब्द मिलाने से आशय में असीम वृद्धि हुई है। संस्कृत व्याकरण के अनुसार, *अपि* शब्द के सात पर्याय हैं।

अतः इस श्लोक के प्रत्येक शब्द की व्याख्या करने पर देखा जा सकता है कि शुद्ध भक्त को आकर्षित करने के लिए भगवान् कृष्ण में असंख्य दिव्य गुण पाये जाते हैं।

हरेर्गुणाक्षिप्तमतिर्भगवान् बादरायणिः ।

अध्यगान्महदाख्यानं नित्यं विष्णुजनप्रियः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

हरेः—भगवान् हरि के; गुण—दिव्य गुण में; आक्षिप्त—लीन होकर; मतिः—मन; भगवान्—शक्तिमान; बादरायणिः—व्यासदेव के पुत्र ने; अध्यगात्—अध्ययन किया; महत्—महान्; आख्यानम्—कथा का; नित्यम्—नियमित रूप से; विष्णु-जन—भगवद्भक्त; प्रियः—प्रिय।

श्रील व्यासदेव के पुत्र, श्रील शुकदेव गोस्वामी न केवल दिव्य शक्ति से युक्त थे, अपितु वे भगवान् के भक्तों के भी अत्यन्त प्रिय थे। इस प्रकार उन्होंने इस महान् कथा (श्रीमद्भागवत) का अध्ययन किया।

तात्पर्य : *ब्रह्मवैवर्त पुराण* के अनुसार, श्रील शुकदेव गोस्वामी अपनी माता के गर्भ में भी मुक्तात्मा ही थे। श्रील व्यासदेव जानते थे कि यह बालक जन्म लेने के बाद कभी घर में नहीं रहेगा। अतएव उन्होंने बालक को *भागवत* की रूपरेखा सुनाई, जिससे वह भगवान् की दिव्य लीलाओं में अनुरक्त होता रहे। जन्म लेने के बाद यह बालक यथार्थ में श्लोकों का पाठ करके भागवत की विषय वस्तु में और भी अधिक शिक्षित बन गया।

भाव यह है कि सामान्य रूप से मुक्त पुरुष अद्वैतवादी दृष्टिकोण के साथ परम ब्रह्म से एकाकार होने के उद्देश्य से उनके निराकार ब्रह्म के आयाम के प्रति आसक्त होते हैं। लेकिन व्यासदेव जैसे शुद्ध भक्तों की संगति से मुक्त पुरुष भी भगवान् के दिव्य गुणों के प्रति आकर्षित हो जाते हैं। श्री नारद की कृपा से श्रील व्यासदेव *श्रीमद्भागवत* महाकाव्य का वर्णन कर सके और व्यासदेव के अनुग्रह से श्रील शुकदेव गोस्वामी उसके आशय को ग्रहण कर सके। भगवान् के दिव्य गुण इतने आकर्षक हैं कि श्रील शुकदेव गोस्वामी निराकार ब्रह्म में लीन न होकर, उससे विरक्त हो गये और उन्होंने भगवान् की निजी लीलाओं को ग्रहण कर लिया।

व्यावहारिक रूप से शुकदेव गोस्वामी अपने मन में यह सोचते हुए परम ब्रह्म की निराकार धारणा से विलग हो गए कि उन्होंने अपना इतना समय परमेश्वर के निराकार उपाधि के पीछे व्यर्थ ही गवाँ दिया। दूसरे शब्दों में, उन्होंने निराकार ब्रह्म की तुलना में भगवान् के सगुण रूप से अधिक दिव्य आनन्द की अनुभूति प्राप्त की। और उस समय के बाद वे न केवल विष्णु-जनों अर्थात् भगवद्भक्तों के ही अत्यन्त प्रिय बन गये, अपितु विष्णुजन भी उन्हें अत्यन्त प्रिय हो गये। जो भगवद्भक्त जीवों की व्यक्तता को नष्ट करना नहीं चाहते और जो भगवान् के निजी सेवक बनना चाहते हैं, वे निर्विशेषवादियों को ज्यादा पसन्द नहीं करते और इसी प्रकार, परमेश्वर से एकाकार होने के इच्छुक निर्विशेषवादी भगवद्भक्तों का मूल्यांकन कर पाने में असमर्थ होते हैं। इस प्रकार अनन्त काल से, ये दोनों दिव्य तीर्थयात्री कभी-कभी प्रतिस्पर्धी बन जाते हैं। दूसरे शब्दों में, इनमें से हर एक अपनी साकार तथा निराकार चरम अनुभूति के कारण, अपने को दूसरे से पृथक् रखना चाहता है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि श्रील शुकदेव गोस्वामी भी भक्तों को नहीं चाहते थे। लेकिन चूँकि वे स्वयं एक प्रगाढ़ भक्त बन गये थे, अतएव वे सदैव विष्णुजनों की संगति करना चाहते थे और विष्णुजन भी उनकी संगति की कामना करते थे, क्योंकि वे व्यक्तिगत *भागवत* बन चुके थे। इस प्रकार, पिता तथा पुत्र दोनों ही ब्रह्म के दिव्य ज्ञान से अवगत थे और बाद में वे दोनों परमेश्वर के साकार रूप में अनुरक्त हो गये। इस प्रकार इस श्लोक से इस प्रश्न का

भी उत्तर मिल जाता है कि शुकदेव गोस्वामी किस प्रकार *भागवत* की कथा के प्रति आकृष्ट हुए थे।

परीक्षितोऽथ राजर्षेर्जन्मकर्मविलापनम् ।

संस्थां च पाण्डुपुत्राणां वक्ष्ये कृष्णकथोदयम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

परीक्षितः—राजा परीक्षित का; अथ—इस प्रकार; राजर्षेः—राजा का, जो राजाओं में ऋषि था; जन्म—जन्म; कर्म—कर्म; विलापनम्—उद्धार, मोक्ष; संस्थाम्—संसार का परित्याग; च—तथा; पाण्डु-पुत्राणाम्—पाण्डु के पुत्रों का; वक्ष्ये—में कहूँगा; कृष्ण-कथा-उदयम्—जो भगवान् श्रीकृष्ण की दिव्य कथा को जन्म देने वाला है।

सूत गोस्वामी ने शौनक आदि ऋषियों को सम्बोधित किया : अब मैं भगवान् श्रीकृष्ण की दिव्य कथा तथा राजर्षि परीक्षित महाराज के जन्म, कार्यकलाप तथा मोक्ष विषयक वार्ताएँ एवं पाण्डुपुत्रों द्वारा गृहस्थाश्रम के त्याग की कथाएँ कहने जा रहा हूँ।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण पतितात्माओं पर इतने दयालु हैं कि वे विभिन्न जीवों के मध्य स्वयं अवतरित होते हैं और उनके दैनिक कार्यकलापों में भाग लेते हैं। कोई भी ऐतिहासिक तथ्य, चाहे पुराना हो या नया, यदि उसका सम्बन्ध कृष्ण की लीलाओं से है, तो उसे भगवान् की दिव्य कथा समझना चाहिए। कृष्ण के बिना *पुराण* तथा *महाभारत* जैसे पूरक ग्रंथ निरी कहानियाँ या ऐतिहासिक तथ्य हैं। लेकिन कृष्ण के होने से वे दिव्य बन जाते हैं और उनका श्रवण करते ही हम भगवान् से दिव्य रूप से जुड़ जाते हैं। *श्रीमद्भागवत* भी एक पुराण है, लेकिन इस पुराण का विशेष महत्त्व यह है कि इसमें कृष्ण की लीलाएँ, केवल पूरक ऐतिहासिक तथ्य नहीं हैं, वरन् ये ही केन्द्रबिन्दु हैं। इसीलिए भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु ने *श्रीमद्भागवत* की संस्तुति निष्कलुष पुराण के रूप में की है। लेकिन *भागवत पुराण* के अल्पज्ञ भक्तों का एक ऐसा वर्ग है, जो प्रारम्भिक स्कंधों को पहले समझे बिना सीधे दशम स्कंध में वर्णित भगवान् की लीलाओं का आस्वाद लेना चाहते हैं। उनकी यह भ्रान्त धारणा होती है कि अन्य स्कंध भगवान् से सम्बद्ध नहीं हैं, अतएव वे मूर्खतावश दशम स्कंध को ही पढ़ने लगते हैं। इन पाठकों को यहाँ पर विशेष रूप से बताया जा रहा है कि *भागवत* के अन्य स्कंध भी दशम स्कंध की ही भाँति महत्त्वपूर्ण हैं।

पाठकों को चाहिए कि अन्य नौ स्कन्धों का तात्पर्य समझे बिना वे दशम स्कंध की विषय वस्तु में प्रवेश करने का प्रयत्न न करें। कृष्ण तथा पाण्डवों जैसे उनके शुद्ध भक्त एकसमान धरातल पर हैं। कृष्ण समस्त रसों में स्थित अपने भक्तों से रहित नहीं होते और पाण्डव जैसे शुद्ध भक्त भी कृष्ण से रहित नहीं हैं। भक्त तथा भगवान् परस्पर जुड़े हुए हैं और उन्हें विलग नहीं किये जा सकते। अतएव उनसे सम्बन्धित सभी बातें कृष्ण कथा ही हैं।

यदा मृधे कौरवसृञ्जयानां
वीरेष्वथो वीरगतिं गतेषु ।
वृकोदराविद्धगदाभिमर्श-
भग्नोरुदण्डे धृतराष्ट्रपुत्रे ॥ १३ ॥
भर्तुः प्रियं द्रौणिरिति स्म पश्यन्
कृष्णासुतानां स्वपतां शिरांसि ।
उपाहरद्विप्रियमेव तस्य
जुगुप्सितं कर्म विगर्हयन्ति ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; मृधे—युद्धभूमि में; कौरव—धृतराष्ट्र के पक्ष वाले; सृञ्जयानाम्—पाण्डवों के पक्ष के; वीरेषु—योद्धाओं में; अथो—इस तरह; वीर-गतिम्—योद्धाओं के योग्य स्थान; गतेषु—प्राप्त करने पर; वृकोदर—भीम; आविद्ध—प्रताड़ित; गदा—गदा से; अभिमर्श—विलाप करते; भग्न—टूटा; उरु-दण्डे—मेरु दण्ड; धृतराष्ट्र-पुत्रे—राजा धृतराष्ट्र का पुत्र; भर्तुः—स्वामी का; प्रियम्—प्यारा; द्रौणिः—द्रोणाचार्य का पुत्र; इति—इस प्रकार; स्म—होगा; पश्यन्—देखते हुए; कृष्णा—द्रौपदी के; सुतानाम्—पुत्रों का; स्वपताम्—सोते हुए; शिरांसि—शिर; उपाहरत्—पुरस्कार के रूप में प्रदान किया; विप्रियम्—सुखद; एव—सदृश; तस्य—उसका; जुगुप्सितम्—अत्यन्त नृशंस; कर्म—कार्य; विगर्हयन्ति—भर्त्सना करते हैं।

जब दोनों दलों अर्थात् कौरवों तथा पाण्डवों के अपने-अपने योद्धागण कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में मारे जा चुके और मृत योद्धाओं को उनकी इच्छित गति प्राप्त हो गई और जब भीमसेन की गदा के प्रहार से मेरुदण्ड टूट जाने से धृतराष्ट्र का पुत्र विलाप करता गिर पड़ा, तो द्रोणाचार्य के पुत्र (अश्वत्थामा) ने द्रौपदी के सोते हुए पाँचों पुत्रों के सिरों को काटकर मूर्खतावश उन्हें उपहारस्वरूप यह सोचते हुए उसे अर्पित किया कि इससे उसका स्वामी

प्रसन्न होगा। लेकिन दुर्योधन ने इस जघन्य कृत्य की निन्दा की और वह तनिक भी प्रसन्न न हुआ।

तात्पर्य : श्रीमद्भागवत में भगवान् श्रीकृष्ण की लीलाओं की दिव्य कथा कुरुक्षेत्र के युद्ध के समाप्त होने से प्रारम्भ होती है जहाँ भगवान् ने स्वयं भगवद्गीता में अपने विषय में कहा है। अतएव भगवद्गीता तथा श्रीमद्भागवत दोनों ही भगवान् की दिव्य कथाएँ हैं। गीता कृष्ण-कथा है, क्योंकि यह भगवान् द्वारा कही गई है और भागवत भी कृष्ण-कथा है, क्योंकि यह कृष्ण के विषय में कही गयी कथा है। भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु चाहते थे कि प्रत्येक व्यक्ति इन दोनों कृष्ण-कथाओं के विषय में जाने। भगवान् कृष्ण चैतन्य, भगवान् कृष्ण के भक्त के वेश में, साक्षात् कृष्ण हैं, अतएव भगवान् कृष्ण तथा श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु दोनों के मंतव्य समान हैं। भगवान् चैतन्य की इच्छा थी कि जिन्होंने भारत में जन्म लिया है, वे सारे लोग इन कृष्ण-कथाओं को गम्भीरतापूर्वक समझें और पूर्ण अनुभूति होने के बाद विश्व के प्रत्येक भाग में इस दिव्य सन्देश का प्रचार करें। इससे त्रस्त विश्व में वांछित शान्ति तथा सम्पन्नता प्राप्त हो सकेगी।

माता शिशूनां निधनं सुतानां
निशम्य घोरं परितप्यमाना ।
तदारुदद्वाष्पकलाकुलाक्षी
तां सान्त्वयन्नाह किरीटमाली ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

माता—माता; शिशूनाम्—अबोध; निधनम्—हत्या; सुतानाम्—पुत्रों की; निशम्य—सुनकर; घोरम्—नृशंसापूर्वक;
परितप्यमाना—शोक करती; तदा—उस समय; अरुदत्—रोने लगी; वाष्प-कल-आकुल-अक्षी—आँखों में आँसू के साथ; ताम्—उसको; सान्त्वयन्—धीरज बँधाते हुए; आह—कहा; किरीटमाली—अर्जुन ने।

पाण्डवों के पाँचों पुत्रों की माता, द्रौपदी, अपने पुत्रों का वध सुनकर, आँसुओं से भरी आँखों के साथ, शोक से विलाप करने लगी। इस घोर क्षति में उसे ढाढस बँधाते हुए अर्जुन उससे इस प्रकार बोले।

तदा शुचस्ते प्रमृजामि भद्रे
 यद्ब्रह्मबन्धोः शिर आततायिनः ।
 गाण्डीवमुक्तैर्विशिखैरूपाहरे
 त्वाक्रम्य यत्स्नास्यसि दग्धपुत्रा ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

तदा—उस समय; शुचः—शोक के आँसू; ते—तुम्हारे; प्रमृजामि—पोंछ दूँगा; भद्रे—हे भद्र स्त्री; यत्—जब; ब्रह्म-
 बन्धोः—पतित ब्राह्मण का; शिरः—सिर; आततायिनः—आततायी का; गाण्डीव-मुक्तैः—गांडीव नामक धनुष से छोड़े
 गये; विशिखैः—बाणों से; उपाहरे—तुम्हें भेंट करूँगा; त्वा—तुम स्वयं; आक्रम्य—उस पर चढ़ कर; यत्—जो;
 स्नास्यसि—स्नान करोगी; दग्ध-पुत्रा—पुत्रों को दाह देने के बाद।

हे देवी, जब मैं अपने गाण्डीव धनुष से छोड़े गये तीरों से उस ब्राह्मण का सिर काट के
 तुम्हें भेंट करूँगा, तभी मैं तुम्हारी आँखों से आँसू पोछूँगा और तुम्हें सान्त्वना प्रदान करूँगा।
 तब तुम अपने पुत्रों के शरीरों का दाह करने के बाद उसके सिर पर खड़ी होकर स्नान
 करना।

तात्पर्य : कोई शत्रु जो घर में आग लगाता है, विष खिलाता है, अचानक घातक शस्त्रों से
 प्रहार करता है, सम्पत्ति लूटता है या कृषि-योग्य खेतों पर अनुचित अधिकार जमा लेता है, किसी
 की पत्नी को फाँसता है, वह आततायी है। ऐसा आततायी, चाहे वह ब्राह्मण हो या ब्राह्मण का
 तथाकथित पुत्र ही क्यों न हो, सब प्रकार से दण्डनीय है। जब अर्जुन ने अश्वत्थामा नामक
 आततायी का शिर काटने की प्रतिज्ञा की, तो वह भलीभाँति जानता था कि अश्वत्थामा ब्राह्मण का
 पुत्र है, लेकिन चूँकि उस तथाकथित ब्राह्मण ने कसाई जैसा कार्य किया था, अतः वह आततायी
 था और ऐसे धूर्त ब्राह्मण के पुत्र को मारने में कोई पाप नहीं था।

इति प्रियां वल्गुविचित्रजल्पैः
 स सान्त्वयित्वाच्युतमित्रसूतः ।
 अन्वाद्रवदंशित उग्रधन्वा
 कपिध्वजो गुरुपुत्रं रथेन ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

इति—इस तरह; प्रियाम्—प्रियतमा को; वल्गु—मीठे; विचित्र—तरह-तरह के; जल्पैः—कथनों द्वारा; सः—वह; सान्त्वयित्वा—सान्त्वना देकर, प्रसन्न करके; अच्युत-मित्र-सूतः—अर्जुन ने, जिसका मार्गदर्शन अच्युत भगवान् मित्र तथा सारथी के रूप में करते हैं; अन्वाद्रवत्—पीछा किया; दंशितः—कवच द्वारा सुरक्षित; उग्र-धन्वा—भयानक अस्त्रों से सज्जित; कपि-ध्वजः—अर्जुन; गुरु-पुत्रम्—अपने गुरु के पुत्र को; रथेन—रथ पर आरूढ़ होकर।

इस प्रकार, मित्र तथा सारथी के रूप में अच्युत भगवान् द्वारा मार्गदर्शित किए जाने वाले अर्जुन ने अपनी प्रियतमा को ऐसे कथनों से तुष्ट किया। तब उसने अपना कवच धारण किया और भयानक अस्त्र-शस्त्रों से लैस होकर, वह अपने रथ पर चढ़ कर अपने गुरुपुत्र अश्वत्थामा का पीछा करने के लिए निकल पड़ा।

तमापतन्तं स विलक्ष्य दूरात्
कुमारहोद्विग्नमना रथेन ।
पराद्रवत्प्राणपरीप्सुरुर्व्यां
यावद्गमं रुद्रभयाद्यथा कः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; आपतन्तम्—क्रोध से आते हुए; सः—उसने; विलक्ष्य—देखकर; दूरात्—दूर से ही; कुमार-हा—राजकुमारों का हत्यारा; उद्विग्न-मनाः—मन में विचलित; रथेन—रथ पर; पराद्रवत्—भाग चला; प्राण—प्राण की; परीप्सुः—रक्षा करने के लिए; उर्व्याम्—तेज गति से; यावत्-गमम्—ज्योंही वह भागा; रुद्र-भयात्—शिव के भय से; यथा—जिस प्रकार; कः—ब्रह्मा (या अर्कः)।

राजकुमारों का हत्यारा, अश्वत्थामा, अर्जुन को दूर से ही अपनी ओर तेजी से आते हुए देखकर अपने रथ पर सवार होकर डर के मारे अपनी जान बचाने के लिए उसी तरह भाग निकला, जिस प्रकार शिवजी के भय से ब्रह्माजी भागे थे।

तात्पर्य : पुराणों की पाठ्य सामग्री के अनुसार कः या अर्कः के दो सन्दर्भ मिलते हैं। कः का अर्थ ब्रह्मा है जिन्होंने एक बार अपनी पुत्री से मोहित होने पर उसका पीछा किया, जिससे शिवजी कुपित हो गये और उन्होंने ब्रह्मा पर अपने त्रिशूल से आक्रमण कर दिया। ब्रह्माजी अपने प्राणों के भय से भाग गए। जहाँ तक अर्कः का सम्बन्ध है, वामन पुराण में एक प्रसंग मिलता है। विद्युन्माली नाम का एक असुर था, जिसे एक चमचमाता सुनहरा वायुयान दिया गया था, जो सूर्य के पीछे पीछे यात्रा कर रहा था और उसके प्रकाश से रात्रि भाग जाती थी। इसके कारण सूर्यदेव

क्रुद्ध हो गये और उन्होंने अपनी प्रखर किरणों से वायुयान को पिघला डाला। इससे शिवजी कुपित हो गये और उन्होंने सूर्यदेव पर आक्रमण कर दिया। सूर्यदेव भाग गये और अन्त में काशी (वाराणसी) में गिर पड़े। वह स्थान लोलार्क के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

यदाशरणमात्मानमैक्षत श्रान्तवाजिनम् ।

अस्त्रं ब्रह्मशिरो मेने आत्मत्राणं द्विजात्मजः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; अशरणम्—जिसके कोई आश्रय न हो; आत्मानम्—अपने को; ऐक्षत—देखा; श्रान्त-वाजिनम्—थके हुए घोड़े; अस्त्रम्—हथियार; ब्रह्म-शिरः—सर्वोच्च या परम (आणविक) ; मेने—प्रयुक्त किया; आत्म-त्राणम्—अपनी रक्षा के लिए; द्विज-आत्म-जः—ब्राह्मण के पुत्र ने।

जब ब्राह्मण के पुत्र (अश्वत्थामा) ने देखा कि उसके घोड़े थक गये हैं तो उसने सोचा कि अब उसके पास अनन्तिम अस्त्र ब्रह्मास्त्र (आणविक हथियार) का प्रयोग करने के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प नहीं रह गया।

तात्पर्य : अन्ततः जब कोई विकल्प नहीं रह जाता, तभी ब्रह्मास्त्र नामक परमाणु हथियार का प्रयोग किया जाता है। यहाँ पर द्विजात्मजः शब्द महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि अश्वत्थामा द्रोणाचार्य का पुत्र होते हुए भी सुयोग्य ब्रह्मण न था। सर्वाधिक बुद्धिमान व्यक्ति ब्राह्मण कहलाता है और यह कोई वंशानुगत उपाधि नहीं है। अश्वत्थामा पहले भी ब्रह्म-बन्धु कहलाता था। ब्राह्मण का मित्र होने का यह अर्थ नहीं है कि वह योग्यता में भी ब्राह्मण हो। ब्राह्मण का मित्र या पुत्र पूर्ण रूप से योग्य होने पर ही ब्राह्मण कहला सकता है, अन्यथा नहीं। चूँकि अश्वत्थामा का निर्णय अप्रौढ़ता भरा है, अतएव उसे यहाँ जानबूझ कर ब्राह्मण का पुत्र कहा गया है।

अथोपस्पृश्य सलिलं सन्दधे तत्समाहितः ।

अजानन्नपि संहारं प्राणकृच्छ्र उपस्थिते ॥ २० ॥

शब्दार्थ

अथ—इस प्रकार; उपस्पृश्य—पवित्रता के लिए स्पर्श; सलिलम्—जल; सन्दधे—मंत्र पढ़ा; तत्—वह; समाहितः—ध्यान में मग्न; अजानन्—बिना जाने; अपि—यद्यपि; संहारम्—वापसी; प्राण-कृच्छ्रे—प्राण संकट; उपस्थिते—होने पर।

चूँकि उसके प्राण संकट में थे, अतएव उसने अपने को पवित्र करने के लिए जल का स्पर्श किया और ब्रह्मास्त्र चलाने के लिए मन्त्रोच्चार में अपना ध्यान एकाग्र किया, यद्यपि उसे इस अस्त्र को वापस लाने की विधि ज्ञात न थी।

तात्पर्य : भौतिक कार्यकलापों के सूक्ष्म रूप भौतिक कार्य पद्धति की स्थूलतर विधियों से अधिक सूक्ष्म होते हैं। इस तरह के भौतिक कार्यकलापों के ऐसे सूक्ष्म रूप ध्वनि की शुद्धि द्वारा प्राप्त किये जाते हैं। यहाँ पर ब्रह्मास्त्र को मन्त्रोच्चार द्वारा क्रियाशील करने के लिए इसी विधि को अपनाया गया है।

ततः प्रादुष्कृतं तेजः प्रचण्डं सर्वतोदिशम् ।

प्राणापदमभिप्रेक्ष्य विष्णुं जिष्णुरुवाच ह ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; प्रादुष्कृतम्—प्रसारित किया गया; तेजः—चमक; प्रचण्डम्—भयानक; सर्वतः—चारों ओर; दिशम्—दिशाएँ; प्राण-आपदम्—जीवन को प्रभावित करते हुए; अभिप्रेक्ष्य—देखकर; विष्णुम्—भगवान् से; जिष्णुः—अर्जुन ने; उवाच ह—कहा।

तत्पश्चात् समस्त दिशाओं में प्रचण्ड प्रकाश फैल गया। यह इतना उग्र था कि अर्जुन को अपने प्राण संकट में जान पड़े, अतएव उसने भगवान् श्रीकृष्ण को सम्बोधित करना प्रारम्भ किया।

अर्जुन उवाच

कृष्ण कृष्ण महाबाहो भक्तानामभयङ्कर ।

त्वमेको दह्यमानानामपवर्गोऽसि संसृतेः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

अर्जुनः उवाच—अर्जुन ने कहा; कृष्ण—हे भगवान् कृष्ण; कृष्ण—हे भगवान् कृष्ण; महा-बाहो—सर्वशक्तिमान; भक्तानाम्—भक्तों के; अभयङ्कर—भय को भगाने वाले; त्वम्—आप; एकः—एकमात्र; दह्यमानानाम्—कष्ट उठाने वालों के; अपवर्गः—मोक्ष पथ; असि—हो; संसृतेः—भौतिक कष्टों के बीच में।

अर्जुन ने कहा : हे भगवान् श्रीकृष्ण, आप सर्वशक्तिमान परमेश्वर हैं। आपकी विविध शक्तियों की कोई सीमा नहीं है। अतएव एकमात्र आप ही अपने भक्तों के हृदयों में अभय

उत्पन्न करने में समर्थ हैं। भौतिक कष्टों की ज्वालाओं में फँसे सारे लोग केवल आपमें ही मोक्ष का मार्ग पा सकते हैं।

तात्पर्य : अर्जुन भगवान् श्रीकृष्ण के दिव्य गुणों से अवगत था, क्योंकि कुरुक्षेत्र के युद्ध में वे दोनों साथ-साथ उपस्थित थे, तभी इसका अनुभव उसे हो चुका था। अतएव कृष्ण के विषय में अर्जुन का कथन प्रामाणिक है। कृष्ण सर्वशक्तिमान हैं और भक्तों की निर्भयता के कारण स्वरूप हैं। भगवद्भक्त सदैव निर्भय रहता है, क्योंकि भगवान् उसकी रक्षा करते हैं। यह भौतिक संसार जंगल में धधकती अग्नि के समान है, जिसका शमन भगवान् श्रीकृष्ण की कृपा से ही सम्भव है। गुरु भगवान् की कृपा के प्रतिनिधि होते हैं। अतएव भौतिक अस्तित्व की ज्वालाओं में जलता हुआ व्यक्ति, स्वरूपसिद्ध गुरु के पारदर्शी माध्यम से ही भगवान् की कृपा रूपी वर्षा प्राप्त कर सकता है। गुरु अपनी वाणी के द्वारा पीड़ित व्यक्ति के हृदय में प्रवेश करके दिव्य ज्ञान प्रदान कर सकते हैं, जिससे भौतिक संसार की अग्नि बुझ सकती है।

त्वमाद्यः पुरुषः साक्षादीश्वरः प्रकृतेः परः ।

मायां व्युदस्य चिच्छक्त्या कैवल्ये स्थित आत्मनि ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

त्वम् आद्यः—आप आदि; पुरुषः—भोक्ता पुरुष हैं; साक्षात्—प्रत्यक्ष; ईश्वरः—नियन्ता; प्रकृतेः—भौतिक प्रकृति के; परः—दिव्य; मायाम्—भौतिक शक्ति को; व्युदस्य—दूर भगा कर; चित्-शक्त्या—अन्तरंगा शक्ति के बल से; कैवल्ये—शुद्ध शाश्वत ज्ञान तथा आनन्द में; स्थितः—स्थित; आत्मनि—अपने।

आप आदि भगवान् हैं जिनका समस्त सृष्टियों में विस्तार है और आप भौतिक शक्ति से परे हैं। आपने अपनी आध्यात्मिक शक्ति से भौतिक शक्ति के सारे प्रभावों को दूर भगा दिया है। आप निरन्तर शाश्वत आनन्द तथा दिव्य ज्ञान में स्थित रहते हैं।

तात्पर्य : भगवद्गीता में भगवान् कहते हैं कि जो व्यक्ति भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करता है, वह अविद्या के चंगुल से छूट सकता है। कृष्ण सूर्य के तुल्य हैं और माया या भौतिक जगत अंधकार के तुल्य है। जहाँ-जहाँ सूर्य का प्रकाश जाता है, वहाँ-वहाँ से अंधकार या अज्ञान तुरन्त दूर हो जाता है। यहाँ पर अज्ञान के संसार से निकलने का सर्वश्रेष्ठ उपाय सुझाया गया

है। यहाँ पर भगवान् को आदि परमेश्वर कहा गया है। उन्हीं से अन्य सारे अवतारों का विस्तार होता है। सर्वव्यापी भगवान् विष्णु भगवान् कृष्ण के पूर्ण अंश या विस्तार हैं। भगवान् अपनी नानाप्रकार की शक्तियों सहित ईश्वर तथा जीवों के असंख्य रूपों में अपना विस्तार करते हैं। लेकिन श्रीकृष्ण मूल आदि भगवान् हैं, जिनसे प्रत्येक वस्तु का उद्भव होता है। इस दृश्य जगत में भगवान् का जो सर्वव्यापी रूप दिखलाई पड़ता है, वह भी भगवान् की ही आंशिक अभिव्यक्ति है। अतएव परमात्मा भगवान् में ही सन्निहित हैं। वे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं। उन्हें भौतिक जगत के कर्मों तथा फलों से कोई सरोकार नहीं होता, क्योंकि वे भौतिक सृष्टि से बहुत ऊपर हैं। अंधकार सूर्य का विकृत (उल्टा) रूप है, अतएव अंधकार का अस्तित्व सूर्य के अस्तित्व पर निर्भर करता है, लेकिन सूर्य में अंधकार का नामोनिशान नहीं होता। जिस प्रकार सूर्य केवल प्रकाश से ओतप्रोत होता है, उसी प्रकार भगवान् इस भौतिक जगत से परे रहकर, आनन्द से ओतप्रोत रहते हैं। वे न केवल आनन्द से परिपूर्ण हैं, अपितु दिव्य विविधता से भी ओतप्रोत हैं। दिव्यता तनिक भी गतिहीन नहीं है, बल्कि गतिशील विविधता से युक्त है। वे भौतिक प्रकृति से भिन्न हैं, क्योंकि भौतिक प्रकृति तीन गुणों के कारण जटिल बनी रहती है। वे परम या प्रधान हैं, अतः वे पूर्ण हैं। उनकी अनेक शक्तियाँ हैं और वे अपनी विविध शक्तियों के द्वारा संसार का सृजन, पालन तथा संहार करते हैं। लेकिन उनके अपने धाम में सब कुछ सनातन तथा पूर्ण है। यह संसार केवल शक्तियों या शक्तिशाली प्रतिनिधियों द्वारा संचालित न होकर सर्वशक्तिमान के द्वारा उनकी समस्त शक्तियों सहित संचालित होता है।

स एव जीवलोकस्य मायामोहितचेतसः ।

विधत्से स्वेन वीर्येण श्रेयो धर्मादिलक्षणम् ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

सः—वह दिव्यता; एव—निश्चय ही; जीव-लोकस्य—बद्धजीवों का; माया-मोहित—माया द्वारा मोहित; चेतसः—हृदय से; विधत्से—सम्पन्न करते हैं; स्वेन—अपने; वीर्येण—प्रभाव से; श्रेयः—परम कल्याण; धर्म-आदि—मोक्ष के चार सिद्धान्त; लक्षणम्—लक्षण।

और, यद्यपि आप भौतिक शक्ति (माया) के कार्यक्षेत्र से परे हैं, फिर भी आप बद्धजीवों के परम कल्याण के लिए धर्म इत्यादि से के चारों सिद्धान्तों का पालन करते हैं।

तात्पर्य : भगवान् श्रीकृष्ण अपनी अहैतुकी कृपा से, इस दृश्य जगत में प्रकृति के गुणों से अप्रभावित रहकर अवतरित होते हैं। वे शाश्वत रूप से भौतिक जगत से परे हैं। वे अपनी अहैतुकी कृपावश ही माया द्वारा मोहित पतित जीवों के उद्धार हेतु अवतरित होते हैं। ये जीव माया द्वारा दबोचे जाते हैं और झूठे बहानों के झाँसे से उसका भोग करना चाहते हैं, यद्यपि सच्चाई तो यह है कि जीव भोग करने में असमर्थ है। वह तो भगवान् का नित्य दास है और जब वह अपनी इस स्थिति को भूल जाता है, तो वह भौतिक जगत का भोग करने का सोचता है, किन्तु वास्तव में वह भ्रम में होता है। भगवान् इसी झूठी भोग-धारणा को नष्ट करने के लिए हैं और बद्धजीवों का उद्धार करके उन्हें अपने धाम में ले जाने के लिए अवतरित होते हैं। पतितात्माओं के लिए भगवान् का यही सर्व करुणामय स्वभाव है।

तथायं चावतारस्ते भुवो भारजिहीर्षया ।

स्वानां चानन्यभावानामनुध्यानाय चासकृत् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

तथा—इस प्रकार; अयम्—यह; च—तथा; अवतारः—अवतार; ते—आपका; भुवः—भौतिक जगत का; भार—बोझ; जिहीर्षया—दूर करने के लिए; स्वानाम्—मित्रों का; च अनन्य-भावानाम्—तथा अनन्य भक्तों का; अनुध्यानाय—बारम्बार स्मरण करने के लिए; च—तथा; असकृत्—पूर्ण रूप से प्रसन्न।

इस प्रकार आप संसार का भार हटाने तथा अपने मित्रों तथा विशेषकर आपके ध्यान में लीन रहने वाले आपके अनन्य भक्तों को लाभ पहुँचाने के लिए अवतरित होते हैं।

तात्पर्य : ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान् अपने भक्तों का पक्षपात करते हैं। सभी जीव भगवान् से सम्बन्धित हैं। वे सबों के लिए समान हैं, फिर भी वे अपने जनों तथा भक्तों के प्रति विशेष अनुरक्त रहते हैं। भगवान् सबों के पिता हैं। उनका पिता कोई नहीं हो सकता और न कोई उनका पुत्र बन सकता है। उनके भक्त ही उनके इष्ट-मित्र तथा उनके परिजन हैं। यह उनकी दिव्य लीला है। इसका संसारी सम्बन्धों, पितृत्व या अन्य किसी से कोई प्रयोजन नहीं होता। जैसाकि

ऊपर कहा गया है, भगवान् प्रकृति के गुणों से ऊपर हैं, अतएव भक्ति में उनके इष्ट-मित्र तथा सम्बन्धियों में संसारी रिश्ते जैसी कोई चीज नहीं है।

किमिदं स्वित्कुतो वेति देवदेव न वेद्म्यहम् ।

सर्वतोमुखमायाति तेजः परमदारुणम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

किम्—क्या है; इदम्—यह; स्वित्—आता है; कुतः—कहाँ से; वा इति—चाहे जो हो; देव-देव—हे देवों के देव; न—नहीं; वेद्मि—जानता हूँ; अहम्—मैं; सर्वतः—चारों ओर; मुखम्—दिशाएँ; आयाति—आता है; तेजः—तेज; परम—अत्यधिक; दारुणम्—घातक।

हे देवाधिदेव, चारों ओर फैलने वाला यह घातक तेज कैसा है? यह कहाँ से आ रहा है? मैं इसे समझ नहीं पा रहा हूँ।

तात्पर्य : जो भी वस्तु भगवान् के समक्ष प्रस्तुत की जाय, उसे सादर प्रार्थनापूर्वक करना चाहिए। यही मानक विधि है और अर्जुन ने भगवान् के अन्तरंगा सखा होते हुए भी इस विधि का पालन सामान्य जनों को सूचित करने के लिए किया।

श्रीभगवानुवाच

वेत्थेदं द्रोणपुत्रस्य ब्राह्ममस्त्रं प्रदर्शितम् ।

नैवासौ वेद संहारं प्राणबाध उपस्थिते ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान्—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ने; उवाच—कहा; वेत्थ—मुझसे जानो; इदम्—यह; द्रोण-पुत्रस्य—द्रोण पुत्र का; ब्राह्मम् अस्त्रम्—ब्राह्म (आणविक) अस्त्र का मंत्र; प्रदर्शितम्—प्रदर्शित; न—नहीं; एव—भी; असौ—वह; वेद—यह जानो; संहारम्—लौटाना; प्राण-बाधे—जीवन का विलोप; उपस्थिते—उपस्थित होने पर।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ने कहा : तुम मुझ से यह जान लो कि यह द्रोण के पुत्र का कार्य है। उसने आणविक शक्ति के मंत्र (ब्रह्मास्त्र) का प्रहार किया है और वह यह नहीं जानता कि उसकी चौंधको कैसे लौटाया जाय। उसने निरुपाय होकर आसन्न मृत्यु के भय से ऐसा किया है।

तात्पर्य : ब्रह्मास्त्र आधुनिक आणविक हथियार की भाँति है, जिसका संचालन परमाणु ऊर्जा से किया जाता है। परमाणु शक्ति पूर्ण दहनशीलता पर आधारित है और ब्रह्मास्त्र भी इसी तरह चलता है। यह परमाणु-विकिरणों के समान ही असह्य ताप उत्पन्न करता है, लेकिन अन्तर इतना है कि परमाणु बम एक स्थूल नाभिकीय हथियार है जबकि ब्रह्मास्त्र सूक्ष्म हथियार है जिसे मन्त्र पढ़कर उत्पन्न किया जाता है। यह सर्वथा भिन्न विज्ञान है और प्राचीन काल में भारतवर्ष में ऐसे विज्ञान का अनुशीलन होता था। *मन्त्रोच्चार का यह सूक्ष्म विज्ञान भी भौतिक है*, लेकिन अभी भी आधुनिक भौतिक विज्ञानियों द्वारा इसको जानना शेष है। सूक्ष्म भौतिक विज्ञान कभी आध्यात्मिक नहीं होता, लेकिन आध्यात्मिक विधि से इसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है, जो और भी अधिक सूक्ष्म है। मन्त्र का उच्चारण करने वाला जानता था कि अस्त्र को किस प्रकार छोड़ा जाय और फिर उसे किस प्रकार वापस लाया जाय। यह पूर्ण ज्ञान था। लेकिन इस सूक्ष्म विज्ञान का प्रयोग करने वाला द्रोण-पुत्र यह नहीं जानता था कि किस प्रकार उसे लौटाया जाय। उसने अपनी मृत्यु को आया देख भयभीत होकर इसका व्यवहार तो किया, लेकिन यह प्रथा न केवल अनुचित वरन् धर्मविरुद्ध भी थी। ब्राह्मण पुत्र होने के नाते, उसे इतनी सारी त्रुटियाँ नहीं करनी थीं और कर्तव्य की ऐसी सरासर उपेक्षा के लिए उसे स्वयं भगवान् द्वारा दण्डित होना था।

न ह्यस्यान्यतमं किञ्चिदस्त्रं प्रत्यवकर्शनम् ।

जह्यस्त्रतेज उन्नद्धमस्त्रज्ञो ह्यस्त्रतेजसा ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; हि—निश्चय ही; अस्य—इसका; अन्यतमम्—अन्य; किञ्चित्—कुछ भी; अस्त्रम्—हथियार; प्रति—विपरीत; अवकर्शनम्—प्रतिक्रिया करने वाला; जहि—शमन करो; अस्त्र-तेजः—इस हथियार का तेज; उन्नद्धम्—अत्यन्त शक्तिशाली; अस्त्र-ज्ञः—सैन्य विज्ञान में पटु; हि—निश्चय रूप से; अस्त्र-तेजसा—तुम्हारे हथियार के प्रभाव से।

हे अर्जुन, केवल दूसरा ब्रह्मास्त्र ही इस अस्त्र को निरस्त कर सकता है। चूँकि तुम सैन्य विज्ञान में अत्यन्त पटु हो, अतएव अपने अस्त्र की शक्ति से इस अस्त्र के तेज का शमन करो।

तात्पर्य : परमाणु बमों के प्रभावों को निरस्त करने वाला कोई प्रति-अस्त्र नहीं है। लेकिन सूक्ष्म विज्ञान द्वारा ब्रह्मास्त्र के प्रभाव को प्रशमित किया जा सकता है और उन दिनों जो लोग सैन्य विज्ञान में पटु होते थे, वे ब्रह्मास्त्र का शमन कर सकते थे। द्रोण-पुत्र इस अस्त्र को प्रशमित करने की कला नहीं जानता था, अतएव अर्जुन को अपने अस्त्र से इसे प्रशमित करने का आदेश मिला।

सूत उवाच

श्रुत्वा भगवता प्रोक्तं फाल्गुनः परवीरहा ।

स्पृष्ट्वापस्तं परिक्रम्य ब्राह्मं ब्राह्मास्त्रं सन्दधे ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

सूतः—सूत गोस्वामी ने; उवाच—कहा; श्रुत्वा—सुनकर; भगवता—भगवान् द्वारा; प्रोक्तम्—जो कहा गया; फाल्गुनः—अर्जुन का अन्य नाम; पर-वीर-हा—विपक्षी योद्धा का वध करने वाला; स्पृष्ट्वा—स्पर्श करके; आपः—जल; तम्—उसको; परिक्रम्य—परिक्रमा लगा कर; ब्राह्मम्—परम ब्रह्म को; ब्राह्म-अस्त्रम्—परम अस्त्र को; सन्दधे—छोड़ा।

श्री सूत गोस्वामी ने कहा : भगवान् से यह सुनकर अर्जुन ने शुद्धि के लिए जल का स्पर्श किया और भगवान् श्रीकृष्ण की परिक्रमा करके, उस अस्त्र को प्रशमित करने के लिए उसने अपना ब्रह्मास्त्र छोड़ा।

संहत्यान्योन्यमुभयोस्तेजसी शरसंवृते ।

आवृत्य रोदसी खं च ववृधातेऽर्कवह्निवत् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

संहत्य—संयोग से; अन्योन्यम्—परस्पर; उभयोः—दोनों के; तेजसी—तेज; शर—हथियार; संवृते—घेरते हुए; आवृत्य—आच्छादित करके; रोदसी—पूरा आकाश; खं च—बाह्य अन्तरिक्ष भी; ववृधाते—बढ़ते हुए; अर्क—सूर्य का गोला; वह्नि-वत्—अग्नि के समान।

जब दोनों ब्रह्मास्त्रों की किरणें मिल गईं, तो सूर्य के गोले के समान अग्नि के एक वृहत चक्र ने समस्त बाह्य अन्तरिक्ष तथा लोकों के सम्पूर्ण गगनमण्डल को आवृत कर लिया।

तात्पर्य : ब्रह्मास्त्र के उद्दीपन से उत्पन्न उष्मा सृष्टि के प्रलय के समय सूर्य के गोले से निकलने वाली अग्नि तुल्य होती है। ब्रह्मास्त्र से उत्पन्न उष्मा की तुलना में परमाणु शक्ति का

विकिरण बिलकुल नगण्य है। परमाणु बम के विस्फोट से ज्यादा ज्यादा एक ही ग्रह नष्ट हो सकता है, लेकिन ब्रह्मास्त्र द्वारा उत्पन्न उष्मा से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड नष्ट हो सकता है। अतएव इसकी तुलना प्रलयकालीन उष्मा से की गई है।

दृष्ट्वास्त्रतेजस्तु तयोस्त्रील्लोकान् प्रदहन्महत् ।

दह्यमानाः प्रजाः सर्वाः सांवर्तकममंसत ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

दृष्ट्वा—इस प्रकार देख कर; अस्त्र—हथियार; तेजः—उष्मा; तु—लेकिन; तयोः—दोनों की; त्रीन्—तीनों; लोकान्—लोकों को; प्रदहत्—ज्वलंत; महत्—बुरी तरह; दह्यमानाः—जलाते हुए; प्रजाः—जनता; सर्वाः—सर्वत्र; सांवर्तकम्—वह अग्नि जो ब्रह्माण्ड के प्रलय के समय विध्वंस करती है; अमंसत—सोचने लगा।

उन अस्त्रों की सम्मिलित अग्नि से तीनों लोकों के सारे लोग जल-भुन गये। सभी लोगों को उस सांवर्तक अग्नि का स्मरण हो आया, जो प्रलय के समय लगती है।

तात्पर्य : तीन लोक हैं—ब्रह्माण्ड के ऊर्ध्व, अधो तथा मध्य के लोक। यद्यपि ब्रह्मास्त्र इस पृथ्वी पर छोड़ा गया था, लेकिन अस्त्रों की सम्मिलित उष्मा सारे ब्रह्माण्ड में छा गई और विभिन्न लोकों के समस्त वासी प्रखर उष्मा का अनुभव करने लगे। वे इसकी तुलना सांवर्तक अग्नि से करने लगे। अतः कोई भी ग्रह जीवों से रहित नहीं है, जैसाकि अल्प बुद्धि वाले भौतिकतावादी लोग सोचते हैं।

प्रजोपद्रवमालक्ष्य लोकव्यतिकरं च तम् ।

मतं च वासुदेवस्य सञ्जहारार्जुनो द्वयम् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

प्रजा—सामान्य जन; उपद्रवम्—अव्यवस्था; आलक्ष्य—देखकर; लोक—ग्रहों का; व्यतिकरम्—विनाश; च—भी; तम्—उसको; मतम् च—तथा मत को; वासुदेवस्य—वासुदेव या श्रीकृष्ण का; सञ्जहार—शमन किया, निवारण किया; अर्जुनः—अर्जुन ने; द्वयम्—दोनों अस्त्रों का।

इस प्रकार जन सामान्य में फैली हड़बड़ी एवं ग्रहों के आसन्न विनाश को देखकर, अर्जुन ने भगवान् श्रीकृष्ण की इच्छानुसार तुरन्त ही दोनों अस्त्रों का निवारण कर दिया।

तात्पर्य : यह मत कि आधुनिक परमाणु बम का विस्फोट संसार का संहार कर सकता है, बचकानी कल्पना है। पहले तो परमाणु ऊर्जा संसार का विनाश करने के लिए पर्याप्त सशक्त नहीं है। दूसरे, यह सब परमेश्वर की परम इच्छा पर निर्भर है, क्योंकि उनकी इच्छा या स्वीकृति के बिना कुछ भी बनाया या बिगाड़ा नहीं जा सकता। यह सोचना भी मूर्खता है कि प्राकृतिक नियम अनन्तिम रूप से शक्तिशाली हैं। भौतिक प्रकृति का नियम भगवान् के निर्देशानुसार कार्य करता है, जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में हुई है। उसमें भगवान् कहते हैं कि प्राकृतिक नियम उनके अधीक्षण में कार्य करते हैं। इस संसार का संहार भगवान् की ही इच्छा से हो सकता है, छोटे-मोटे राजनेताओं की सनक से नहीं। भगवान् श्रीकृष्ण ने इच्छा प्रकट की कि द्रौणि तथा अर्जुन दोनों के द्वारा छोड़े गये अस्त्र लौटा लिए जाँय और अर्जुन ने तुरन्त ही इस आज्ञा का पालन किया। इसी प्रकार, सर्वशक्तिमान भगवान् के अनेक दूत हैं और भगवान् जो चाहते हैं, उसे उनकी इच्छा से ही कोई सम्पन्न कर सकता है।

तत आसाद्य तरसा दारुणं गौतमीसुतम् ।

बबन्धामर्षताम्राक्षः पशुं रशनया यथा ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; आसाद्य—बन्दी बनाकर; तरसा—कौशल से; दारुणम्—खतरनाक; गौतमी-सुतम्—गौतमी पुत्र को; बबन्ध—बाँध लिया; अमर्ष—क्रुद्ध; ताम्र-अक्षः—लाल-लाल आँखें; पशुम्—पशु को; रशनया—रस्सियों से; यथा—जिस प्रकार।

ताँबे के दो लाल तप्त गोलों के समान क्रोध से प्रज्वलित आँखें किये, अर्जुन ने अत्यन्त दक्षतापूर्वक से गौतमी के पुत्र को बन्दी बना लिया और उसे रस्सियों से पशु की तरह बाँध लिया।

तात्पर्य : अश्वत्थामा की माता कृपी का जन्म गौतम कुल में हुआ था। इस श्लोक की महत्त्वपूर्ण बात यह है कि अश्वत्थामा को पकड़कर पशु की भाँति रस्सी से बाँध दिया गया। श्रीधर स्वामी के मतानुसार, अर्जुन को अपने धर्म का पालन करने के लिए, इस ब्राह्मण पुत्र को पशु की भाँति पकड़ना पड़ा। श्रीधर स्वामी के इस प्रस्ताव की पुष्टि बाद में श्रीकृष्ण के कथन से भी हो

जाती है। अश्वत्थामा द्रोणाचार्य तथा कृपी का वैध पुत्र था, परन्तु उसने अपने जीवन को पतित बना लिया था, अतएव उसके साथ ब्राह्मण के तुल्य नहीं, अपितु पशुतुल्य व्यवहार करना ही उचित था।

शिविराय निनीषन्तं रज्ज्वा बद्ध्वा रिपुं बलात् ।

प्राहार्जुनं प्रकुपितो भगवानम्बुजेक्षणः ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

शिविराय—सेना के पड़ाव में; निनीषन्तम्—लाते हुए; रज्ज्वा—रस्सियों से; बद्ध्वा—बँधा हुआ; रिपुम्—शत्रु को; बलात्—बलपूर्वक; प्राह—कहा; अर्जुनम्—अर्जुन से; प्रकुपितः—क्रुद्ध; भगवान्—भगवान् ने; अम्बुज-ईक्षणः—अपने कमल सदृश नेत्रों से देखने वाले।

अश्वत्थामा को बाँध लेने के बाद, अर्जुन उसे सेना के पड़ाव की ओर ले जाना चाह रहा था कि अपने कमलनेत्रों से देखते हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने क्रुद्ध अर्जुन से इस प्रकार कहा।

तात्पर्य : यहाँ पर अर्जुन तथा भगवान् श्रीकृष्ण दोनों को क्रुद्ध बताया गया है, लेकिन अर्जुन की आँखें लाल ताँबे के तप्त गोलों के समान थीं, जबकि भगवान् की आँखें कमलवत् थीं। इसका अर्थ यह है कि अर्जुन तथा भगवान् के क्रुद्ध रूप एक-जैसे नहीं हैं। भगवान् दिव्य हैं और किसी भी अवस्था में पूर्ण हैं। उनका क्रोध भौतिक प्रकृति के गुणों के वशीभूत बद्धजीवों के क्रोध जैसा नहीं होता है। चूँकि वे पूर्ण हैं, अतएव उनका क्रोध तथा उनकी प्रसन्नता एक समान हैं। उनका क्रोध प्रकृति के तीनों गुणों में प्रकट नहीं होता। यह अपने भक्तों के हित के लिए उनके मन के झुकाव का प्रतीक मात्र होता है, क्योंकि वही उनकी दिव्य प्रकृति है। अतएव उनके क्रुद्ध होने पर भी क्रोध का पात्र धन्य हो जाता है। वे सभी परिस्थितियों में अपरिवर्तित रहते हैं।

मैनं पार्थार्हसि त्रातुं ब्रह्मबन्धुमिमं जहि ।

योऽसावनागसः सुप्तानवधीन्निशि बालकान् ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

मा एनम्—उसके प्रति कभी नहीं; पार्थ—हे अर्जुन; अर्हसि—तुम्हें चाहिए; त्रातुम्—मुक्त करना; ब्रह्म-बन्धुम्—ब्राह्मण के सम्बन्धी को; इमम्—इस; जहि—मार डालो; यः—जो; असौ—उन; अनागसः—दोषरहित; सुप्तान्—सोये हुए; अवधीत्—हत्या की; निशि—रात्रि में; बालकान्—बालकों की।

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा : हे अर्जुन, इस ब्रह्म-बन्धु को छोड़कर तुम दया मत दिखलाओ, क्योंकि इसने सोते हुए निर्दोष बालकों का वध किया है।

तात्पर्य : ब्रह्म-बन्धु शब्द महत्त्वपूर्ण है। जो व्यक्ति ब्राह्मण कुल में जन्म लेता है, किन्तु ब्राह्मण कहलाने की योग्यता नहीं रखता, उसे ब्राह्मण-बन्धु कहकर संबोधित किया जाता है, न कि ब्राह्मण। उच्च न्यायालय के न्यायाधीश का पुत्र स्वतः ही न्यायाधीश नहीं हो जाता, लेकिन न्यायाधीश के पुत्र को न्यायाधीश का रिश्तेदार कहने में कोई हर्ज नहीं है। अतः जिस प्रकार कोई जन्म के द्वारा ही न्यायालय का न्यायाधीश नहीं बन जाता, उसी प्रकार कोई जन्म के आधार पर ही ब्राह्मण नहीं होता, अपितु उसे ब्राह्मण की आवश्यक योग्यताएँ प्राप्त करनी होती हैं। जिस प्रकार न्यायाधीश का पद उसके योग्य व्यक्ति के लिए होता है, उसी प्रकार से ब्राह्मण का पद भी योग्यता से ही प्राप्त होता है। शास्त्रों का आदेश है कि यदि ब्राह्मण से इतर कुल में भी उत्पन्न हुए पुरुष में ब्राह्मण के सद्गुण रहते हैं, तो उसे ब्राह्मण के रूप में स्वीकार करना होता है। इसी प्रकार यदि ब्राह्मण कुल में उत्पन्न व्यक्ति ब्राह्मण के गुणों से रहित होता है, तो उसे अब्राह्मण या ठीक से कहना चाहें तो ब्राह्मण-बन्धु कहना चाहिए। समस्त वेदों के परम प्रमाण भगवान् श्रीकृष्ण ने ये अन्तर स्वयं बताये हैं और वे इसका कारण अगले श्लोक में बताने वाले हैं।

मत्तं प्रमत्तमुन्मत्तं सुप्तं बालं स्त्रियं जडम् ।
प्रपन्नं विरथं भीतं न रिपुं हन्ति धर्मवित् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

मत्तम्—लापरवाह को; प्रमत्तम्—नशे में रहने वाले को; उन्मत्तम्—पागल को; सुप्तम्—सोए हुए को; बालम्—बालक को; स्त्रियम्—स्त्री को; जडम्—मूर्ख को; प्रपन्नम्—शरणागत को; विरथम्—रथविहीन को; भीतम्—भयभीत को; न—नहीं; रिपुम्—शत्रु को; हन्ति—मारते हैं; धर्म-वित्—धार्मिक नियमों का ज्ञाता।

जो मनुष्य धर्म के सिद्धन्तों को जानता है, वह ऐसे शत्रु का वध नहीं करता जो असावधान, नशे में उन्मत्त, पागल, सोया हुआ, डरा हुआ या रथविहीन हो। न ही वह किसी बालक, स्त्री, मूर्ख प्राणी अथवा शरणागत जीव का वध करता है।

तात्पर्य : धर्म के ज्ञाता योद्धा द्वारा कभी ऐसे शत्रु को नहीं मारा जाता, जो प्रतिरोध न करे। प्राने समय में धर्म युद्ध के सिद्धान्तों के आधार पर लड़े जाते थे, किसी इन्द्रियतृप्ति के लिए नहीं। यदि शत्रु प्रमत्त हो, सोया हो इत्यादि जैसाकि ऊपर कहा गया है, तो उसे कभी भी मारना नहीं चाहिए। धर्म युद्ध के ऐसे कुछ नियम हैं। पूर्व-काल में कभी भी स्वार्थी राजनेताओं की सनक के कारण युद्ध की घोषणा नहीं की जाती थी। युद्ध, पापों से रहित धार्मिक नियमों के आधार पर, लड़े जाते थे। धार्मिक सिद्धान्तों के अनुसार की गई हिंसा तथाकथित अहिंसा से कहीं श्रेष्ठतर होती है।

स्वप्राणान् यः परप्राणैः प्रपुष्णात्यघृणः खलः ।

तद्वधस्तस्य हि श्रेयो यद्दोषाद्यात्यधः पुमान् ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

स्व-प्राणान्—अपना जीवन; यः—जो; पर-प्राणैः—दूसरों के जीवन के मूल्य पर; प्रपुष्णाति—ठीक से पलता है; अघृणः—निर्लज्ज; खलः—दुष्ट; तत्-वधः—उसको मारना; तस्य—उसका; हि—निश्चय ही; श्रेयः—श्रेयस्कर; यत्—जिस; दोषात्—दोष से; याति—जाता है; अधः—नीच की ओर; पुमान्—मनुष्य।

ऐसा क्रूर तथा दुष्ट व्यक्ति जो दूसरों के प्राणों की बलि पर पलता है, उसका वध किया जाना उसके लिए ही हितकर है, अन्यथा अपने ही कर्मों से उसकी अधोगति होती है।

तात्पर्य : जो व्यक्ति क्रूरता तथा निर्लज्जतापूर्वक दूसरों के जीवन की बलि पर पलता है, उसके लिए प्राण का बदला प्राण ही उपयुक्त दण्ड है। राजनीतिक नैतिकता का तकाजा है कि क्रूर व्यक्ति को नरक जाने से बचाने के लिए उसे प्राणदण्ड दिया जाय। यदि शासन किसी हत्यारे को प्राणदण्ड देता है, तो अपराधी के लिए यह अच्छा होता है, क्योंकि उसे अगले जन्म में इस हत्या-कर्म के लिए फल भोगना नहीं पड़ेगा। ऐसा प्राणदण्ड उस हत्यारे के लिए न्यूनतम सम्भव दण्ड है और स्मृति शास्त्रों में कहा गया है कि जिन्हें राजा द्वारा प्राण के बदले प्राण के आधार पर दण्डित किया जाता है, वे अपने सारे पापों से मुक्त हो जाते हैं—यहाँ तक कि वे स्वर्गलोक जाने के पात्र भी बन सकते हैं। नागरिक संहिता तथा धार्मिक सिद्धान्तों के महान रचनाकार मनु के अनुसार, पशु के मारने वाले तक को हत्यारा समझना चाहिए, क्योंकि पशुमाँस कभी भी सभ्य

मनुष्य का भक्ष्य नहीं होता। सभ्य मनुष्य का मुख्य कर्तव्य तो भगवद्धाम वापस जाने के लिए अपने आप को योग्य बनाना है। उनका कहना है कि पशुओं के वध के पीछे, पापी गिरोहों का नियत षड्यन्त्र रहता है, अतएव वे उसी प्रकार दण्डनीय हैं जिस प्रकार कि षड्यन्त्रकारी गिरोह जो सामूहिक रूप से किसी मनुष्य की हत्या करते हैं। जो पशु वध की आज्ञा देता है, जो पशु-वध करता है, जो काटे गये पशुओं को बेचता है, जो पशु मांस पकाता है, जो ऐसे भक्ष्य का वितरण करता है और वह भी, जो ऐसे पकाये भक्ष्य को खाता है, वे सभी हत्यारे हैं और वे सभी प्रकृति के नियमों द्वारा दण्डनीय हैं। चाहे कोई कितनी ही वैज्ञानिक प्रगति क्यों न कर ले, वह जीव को उत्पन्न नहीं कर सकता; अतएव मनमानी करके किसी जीव का वध करने का किसी को भी अधिकार नहीं है। पशु-भक्षकों के लिए शास्त्रों में सीमित पशु यज्ञों की ही अनुमति है और ऐसी अनुमति भी कसाईघरों के खोलने पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए है, न कि पशु-वध को प्रोत्साहित करने के लिए। शास्त्रों में जिस विधि के अन्तर्गत पशु यज्ञ की अनुमति दी गई है, वह बलि किये जाने वाले पशुओं तथा पशु-भक्षकों दोनों ही के हित में है। यह पशु के हित में यों है, क्योंकि बलि होने वाला पशु वेदी में बलि होते ही मनुष्य योनि प्राप्त कर लेता है और पशु-भक्षक भी स्थूल पापों से बच जाता है (सुनियोजित रूप से चलाये जा रहे कसाईघर ऐसे बिभत्स स्थान हैं, जो समाज, राष्ट्र तथा सामान्य जनता के लिए सभी प्रकार के भौतिक अनिष्टों को पनपने के स्थान हैं-इनके द्वारा दिये जाने वाले मांस का भक्षण करना वही यह स्थूल पाप है)। यह भौतिक जगत स्वयं ही चिन्ताओं से भरा हुआ स्थान है और उसमें पशुओं के वध को प्रोत्साहित करने से सारा वातावरण युद्ध, महामारी, अकाल तथा अन्य कई अवांछित विपत्तियों से अधिकाधिक दूषित होता जाता है।

प्रतिश्रुतं च भवता पाञ्चाल्यै शृण्वतो मम ।
आहरिष्ये शिरस्तस्य यस्ते मानिनि पुत्रहा ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

प्रतिश्रुतम्—वचन दिया गया; च—तथा; भवता—तुम्हारे द्वारा; पाञ्चाल्यै—राजा पांचाल की पुत्री (द्रौपदी) को; शृण्वतः—सुना गया; मम—मेरे द्वारा; आहरिष्ये—मैं अवश्य लाऊँगा; शिरः—सिर; तस्य—उसका; यः—जिसने; ते—तुम्हारे; मानिनि—मानते हो; पुत्र-हा—पुत्रों का वधकर्ता ।

इसके अतिरिक्त, मैंने स्वयं तुम्हें द्रौपदी से यह प्रतिज्ञा करते सुना है कि तुम उसके पुत्रों

के वधकर्ता का सिर लाकर उपस्थित करोगे ।

तदसौ वध्यतां पाप आतताय्यात्मबन्धुहा ।

भर्तुश्च विप्रियं वीर कृतवान् कुलपांसनः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

तत्—अतः; असौ—यह आदमी; वध्यताम्—मारा जाएगा; पापः—पापी; आततायी—हमला करने वाला; आत्म—अपने; बन्धु-हा—पुत्रों को मारने वाला; भर्तुः—स्वामी का; च—भी; विप्रियम्—संतुष्ट न करके; वीर—हे योद्धा; कृतवान्—करने वाला; कुल-पांसनः—कुल की राख ।

यह आदमी तुम्हारे ही कुल के सदस्यों का हत्यारा तथा वधकर्ता (आततायी) है । यही नहीं, उसने अपने स्वामी को भी असंतुष्ट किया है । वह अपने कुल की राख (कुलांगार) है । तुम तत्काल इसका वध कर दो ।

तात्पर्य : द्रोणाचार्य के पुत्र को यहाँ पर *कुलांगार* कहा गया है । द्रोणाचार्य के नाम का अत्यधिक सम्मान था । यद्यपि वे शत्रु पक्ष में चले गये थे, फिर भी सारे पाण्डव उनका सम्मान करते थे और अर्जुन ने तो युद्ध आरम्भ होने के पूर्व उन्हें नमस्कार किया था । ऐसा करने में कोई खराबी नहीं थी । लेकिन द्रोणाचार्य के पुत्र ने ऐसा कृत्य करके अपने को पतित बना लिया था, जिसे द्विज द्वारा कभी नहीं किया जाता । द्रोणाचार्य के पुत्र अश्वत्थामा ने द्रौपदी के पाँच पुत्रों की सोते हुए में हत्या की थी, जिससे उसने अपने स्वामी दुर्योधन को भी अप्रसन्न कर दिया था, क्योंकि उसने कभी भी पाण्डवों के सोते हुए पाँचों पुत्रों की हत्या के जघन्य कृत्य की अनुमति नहीं दी थी । इसका अर्थ यह हुआ कि वह अर्जुन के ही कुटुम्बियों का वधकर्ता बन गया, अतएव वह अर्जुन द्वारा दण्डनीय था । शास्त्रों का कथन है कि जो बिना चेतावनी के आक्रमण करता है, पीछे से वार करके मार डालता है, दूसरे के घर में आग लगाता है, किसी अन्य की पत्नी का

अपहरण करता है, वह वध-योग्य है। कृष्ण ने अर्जुन को ये तथ्य याद दिलाए, जिससे वह उन पर ध्यान दे और तदनुसार कार्यवाही करे।

सूत उवाच

एवं परीक्षता धर्म पार्थः कृष्णेन चोदितः ।

नैच्छद्धन्तुं गुरुसुतं यद्यप्यात्महनं महान् ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

सूतः—सूत गोस्वामी ने; उवाच—कहा; एवम्—यह; परीक्षता—परीक्षा लेते हुए; धर्मम्—कर्तव्य के मामले में; पार्थः—श्री अर्जुन; कृष्णेन—भगवान् कृष्ण द्वारा; चोदितः—प्रोत्साहित किये जाने पर; न ऐच्छत्—नहीं चाहा; हन्तुम्—मारना; गुरु-सुतम्—अपने गुरु के पुत्र को; यद्यपि—यद्यपि; आत्म-हनम्—पुत्रों का वधकर्ता; महान्—बहुत बड़ा।

सूत गोस्वामी ने कहा : यद्यपि धर्म में अर्जुन की परीक्षा लेते हुए कृष्ण ने उसे द्रोणाचार्य के पुत्र का वध करने के लिए प्रोत्साहित किया, लेकिन महात्मा अर्जुन को यह विचार नहीं भाया, यद्यपि अश्वत्थामा अर्जुन के ही कुटुम्बियों का नृशंस हत्यारा था।

तात्पर्य : अर्जुन निस्सन्देह एक महात्मा था, जो यहाँ पर भी सिद्ध होता है। यहाँ पर भगवान् कृष्ण स्वयं उसे द्रोण पुत्र का वध करने के लिए प्रोत्साहित करते हैं, लेकिन अर्जुन सोचता है कि उसे अपने महान् गुरु के पुत्र को प्राणदान देना चाहिए, क्योंकि भले ही वह उसके गुरु का अयोग्य पुत्र हो, उसने अपनी सनक से ऐसे जघन्य कर्म किये हैं जो किसी के भी हित में नहीं थे। लेकिन आखिर है तो वह द्रोणाचार्य का ही पुत्र।

भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को बाहर-बाहर से प्रोत्साहित किया, क्योंकि वे अर्जुन की कर्तव्यपरायणता की परीक्षा लेना चाहते थे। ऐसा नहीं था कि अर्जुन में अपने कर्तव्य का पूरा-पूरा बोध नहीं था, न ही भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन के कर्तव्य-बोध से अनजान थे। लेकिन श्रीकृष्ण ने अपने अनेक शुद्ध भक्तों की परीक्षा उनके कर्तव्य-बोध को विवर्धित करने के लिए ली। गोपियों की भी ऐसी ही परीक्षाएँ ली गईं। प्रह्लाद महाराज की भी परीक्षा ली गई। लेकिन सारे शुद्ध भक्त भगवान् द्वारा ली गई अपनी-अपनी परीक्षाओं में खरे उतरते हैं।

अथोपेत्य स्वशिविरं गोविन्दप्रियसारथिः ।

न्यवेदयत्तं प्रियायै शोचन्त्या आत्मजान् हतान् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; उपेत्य—पहुँचकर; स्व—अपने; शिविरम्—शिविर में; गोविन्द—इन्द्रियों को गतिशील करने वाले (भगवान् श्रीकृष्ण); प्रिय—प्यारा; सारथिः—रथ चालक; न्यवेदयत्—प्रदान किया; तम्—उसको; प्रियायै—प्रियतमा को; शोचन्त्यै—विलाप करती; आत्म-जान्—अपने पुत्रों के लिए; हतान्—वध किये गये।

अपने प्रिय मित्र तथा सारथी (श्रीकृष्ण) सहित अपने शिविर में पहुँचकर अर्जुन ने उस हत्यारे को अपनी प्रिय पत्नी को सौंप दिया, जो मारे गये अपने पुत्रों के लिए विलाप कर रही थी।

तात्पर्य : कृष्ण के साथ अर्जुन का दिव्य सम्बन्ध घनिष्ठ मित्रता के रूप में है। *भगवद्गीता* में भगवान् ने स्वयं अर्जुन को अपना प्रियतम सखा कहा है। इस तरह प्रत्येक जीव, किसी-न-किसी प्रिय सम्बन्ध द्वारा भगवान् से जुड़ा है, चाहे वह दास का हो या मित्र का, या माता-पिता का हो या माधुर्य प्रेम का। भक्तियोग की विधि द्वारा प्रत्येक व्यक्ति को आध्यात्मिक जगत में भगवान् का सान्निध्य प्राप्त हो सकता है अगर वह ऐसी इच्छा रखता है और उसके लिए निष्ठापूर्वक प्रयत्न करता है।

तथाहतं पशुवत् पाशबद्ध-

मवाङ्मुखं कर्मजुगुप्सितेन ।

निरीक्ष्य कृष्णापकृतं गुरोः सुतं

वामस्वभावा कृपया ननाम च ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

तथा—इस प्रकार; आहतम्—लाया गया; पशु-वत्—पशु के समान; पाश-बद्धम्—रस्सियों से बँधा; अवाक्-मुखम्—मुँह से एक भी शब्द निकले बिना; कर्म—कार्य; जुगुप्सितेन—घृणित होने के कारण; निरीक्ष्य—देखकर; कृष्णा—द्रौपदी; अपकृतम्—अधर्म कार्य करने वाला; गुरोः—गुरु के; सुतम्—पुत्र को; वाम—सुन्दर; स्वभावा—स्वभाव वाली; कृपया—दयावश; ननाम—प्रणाम किया; च—तथा।

श्री सूत गोस्वामी ने कहा : तब द्रौपदी ने अश्वत्थामा को देखा, जो पशु की भाँति रस्सियों से बँधा था और अत्यन्त घृणित हत्या का कृत्य करने के कारण चुप था। अपने स्त्री

स्वभाववश तथा स्वभाव से उत्तम एवं भद्र होने के कारण, उसने ब्राह्मण रूप में उसके प्रति सम्मान व्यक्त किया।

तात्पर्य : अश्वत्थामा की भर्त्सना स्वयं भगवान् कर चुके थे और अर्जुन ने उसके साथ ब्राह्मण या गुरु पुत्र के समान नहीं, अपितु अपराधी जैसा बर्ताव किया था। लेकिन जब उसे श्रीमती द्रौपदी के समक्ष लाया गया, तो अपने पुत्रों की हत्या से यद्यपि वह संतप्त थी और हत्यारा उसके समक्ष था, किन्तु वह ब्राह्मण या ब्राह्मण के पुत्र को सामान्य रूप से दिये जाने वाले सम्मान से उसे वंचित नहीं कर सकी। यह द्रौपदी के मृदुल नारी-स्वभाव के कारण था। स्त्री-जाति बालकों के समान होती है, अतः उसमें पुरुष की तरह भेदाभेद शक्ति नहीं होती। अश्वत्थामा ने अपने आपको द्रोणाचार्य या ब्राह्मण के पुत्र रूप में अयोग्य सिद्ध कर दिया था और इस कारण से भगवान् कृष्ण-जैसे सर्वश्रेष्ठ प्रामाणिक प्राधिकारी ने उसकी भर्त्सना की थी, लेकिन एक मृदु स्त्री ब्राह्मण के प्रति अपने स्वाभाविक सौजन्य को नहीं त्याग पाई।

आज भी हिन्दू परिवार में नारियाँ ब्राह्मण के प्रति समुचित आदर प्रदर्शित करती हैं, चाहे वह कितना ही पतित और नृशंस ब्रह्म-बन्धु क्यों न हो। लेकिन अब पुरुष वर्ग ऐसे ब्रह्म-बन्धु के प्रति विरोध करने लगे हैं, जो उत्तम ब्राह्मण कुलों में उत्पन्न तो होते हैं, लेकिन जिनके कार्य शूद्रों से भी घटकर होते हैं।

इस श्लोक में एक विशिष्ट शब्द *वाम-स्वभावा* प्रयुक्त हुआ है जिसका अर्थ है, “स्वभाव से मृदु तथा भद्र।” भद्र पुरुष या स्त्री कोई भी बात सरलता से स्वीकार कर लेते हैं, लेकिन औसत बुद्धि का पुरुष ऐसा नहीं करपाता। लेकिन हमें भद्र बनने के उद्देश्य से अपनी तर्क तथा विवेक शक्ति नहीं खो देनी चाहिए। मनुष्य में किसी भी बात का उसके गुणों के अनुसार निर्णय करने के लिए अच्छी विवेक शक्ति होनी चाहिए। हमें मृदु स्त्री स्वभाव का अनुकरण नहीं करना चाहिए और इस तरह जो प्रामाणिक (असली) नहीं है, उसे स्वीकार नहीं कर लेना चाहिए। भले ही उत्तम स्वभाव की स्त्री अश्वत्थामा का सम्मान करे, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं होता कि वह सच्चे ब्राह्मण जैसा उत्तम है।

उवाच चासहन्त्यस्य बन्धनानयनं सती ।

मुच्यतां मुच्यतामेष ब्राह्मणो नितरां गुरुः ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

उवाच—कहा; च—तथा; असहन्ती—उसके लिए असह्य होने के कारण; अस्य—उसका; बन्धन—बाँधा जाना; आनयनम्—उसका लाया जाना; सती—परायणा, भक्त; मुच्यताम् मुच्यताम्—इसे छोड़ दो; एषः—यह; ब्राह्मणः—ब्राह्मण; नितराम्—हमारा; गुरुः—गुरु ।

वह अश्वत्थामा का इस प्रकार रस्सियों से बाँधा जाना सह न सकी और भगवद्परायण स्त्री होने के कारण उसने कहा “इसे छोड़ दो, क्योंकि यह ब्राह्मण है, हमारा गुरु है।”

तात्पर्य : ज्योंही अश्वत्थामा को द्रौपदी के समक्ष लाया गया तो उसे यह असह्य लगा कि एक ब्राह्मण को अपराधी की भाँति बन्दी बनाकर उस अवस्था में उसके समक्ष लाया जाए, विशेष रूप से तब, जबकि वह ब्राह्मण उनके गुरु का पुत्र था।

अर्जुन ने यह भलीभाँति जानते हुए अश्वत्थामा को बन्दी बनाया था कि वह द्रोणाचार्य का पुत्र है। कृष्ण भी यह जानते थे, किन्तु उन दोनों ने इस पर विचार न करते हुए कि वह ब्राह्मण-पुत्र है, उस हत्यारे की भर्त्सना की। प्रामाणिक शास्त्रों के अनुसार, यदि शिक्षक या गुरु अपने पद की प्रतिष्ठा को बनाए नहीं रख पाता, तो वह गुरु बने रहने के अयोग्य है और उसका तिरस्कार किया जाना चाहिए। गुरु को आचार्य भी कहते हैं, अर्थात् वह ऐसा व्यक्ति होता है जिसने समस्त शास्त्रों के सार को आत्मसात् कर लिया है और अपने शिष्यों को भी उसका अनुसरण करना सिखाता है। अश्वत्थामा ब्राह्मण या गुरु का कर्तव्य-निर्वाह करने में असफल रहा, अतएव ब्राह्मण के उच्च पद से उसका तिरस्कार होना था। इस दृष्टि से भगवान् कृष्ण तथा अर्जुन दोनों द्वारा अश्वत्थामा की भर्त्सना उचित थी। लेकिन द्रौपदी जैसी उत्तम स्त्री के लिए, यह विषय शास्त्रीय न होकर प्रथा का प्रश्न था। प्रथानुसार अश्वत्थामा को उसके पिता जैसा सम्मान प्रदान किया जाना था। इसका कारण यह है कि लोग भावनावश ब्राह्मण के पुत्र को भी असली ब्राह्मण स्वीकार कर लेते हैं। लेकिन वास्तविकता इससे भिन्न होती है। ब्राह्मण का सम्मान उसकी योग्यता के कारण होता है, केवल ब्राह्मण पुत्र होने से नहीं।

लेकिन इस सबके बावजूद, द्रौपदी ने इच्छा व्यक्त की कि अश्वत्थामा को तुरन्त मुक्त कर दिया जाय और यह उसकी सद्भावना ही कही जाएगी। इसका अर्थ यह हुआ कि भगवद्भक्त को स्वयं कितने ही कष्ट क्यों न सहने पड़ें, फिर भी वह अन्यो के प्रति, यहाँ तक कि शत्रु के प्रति भी, कठोर नहीं होता। ये लक्षण हैं भगवान् के शुद्ध भक्त के।

सरहस्यो धनुर्वेदः सविसर्गोपसंयमः ।

अस्त्रग्रामश्च भवता शिक्षितो यदनुग्रहात् ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

स-रहस्यः—गोपनीय; धनुः-वेदः—धनुष-बाण चलाने की विद्या; स-विसर्ग—छोड़ते हुए; उपसंयमः—वश में करते हुए; अस्त्र—हथियार; ग्रामः—सभी प्रकार के; च—तथा; भवता—अपने से; शिक्षितः—विद्वान्; यत्—जिसकी; अनुग्रहात्—कृपा से।

यह द्रोणाचार्य की कृपा थी कि आपने धनुष बाण चलाने की विद्या तथा अस्त्रों को वश में करने की गुप्त कला सीखी।

तात्पर्य : धनुर्वेद या सैन्य विज्ञान की शिक्षा द्रोणाचार्य द्वारा दी जाती थी, जिसमें वैदिक मन्त्रों द्वारा शस्त्रास्त्रों को चलाने तथा रोकने के रहस्य सम्मिलित होते थे। स्थूल सैन्य विज्ञान भौतिक अस्त्रों पर आश्रित है, लेकिन इस कला से भी सूक्ष्म कला है वैदिक मन्त्रों से सिक्त बाणों को चलाना, जो मशीनगनों या परमाणु बमों जैसे स्थूल भौतिक शस्त्रों की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली होते हैं। यह नियन्त्रण वैदिक मन्त्रों या ध्वनि के दिव्य विज्ञापन द्वारा किया जाता है। *रामायण* में कहा गया है कि भगवान् श्रीराम के पिता महाराज दशरथ केवल ध्वनि से बाणों का नियंत्रण करते थे। वे केवल ध्वनि सुनकर वस्तु को देखे बिना लक्ष्य को भेद सकते थे। अतएव यह आजकल प्रयुक्त होने वाले स्थूल भौतिक सैन्य हथियारों से कहीं सूक्ष्म सैन्य विज्ञान है। अर्जुन को इसकी शिक्षा दी गई थी, अतएव द्रौपदी चाहती थी कि अर्जुन इन सारे लाभों के लिए द्रोणाचार्य के प्रति कृतज्ञता प्रकट करे। द्रोणाचार्य की अनुपस्थिति में उनका पुत्र ही उनका प्रतिनिधि था। यह उस कुलीन नारी द्रौपदी का अभिमत था। यह तर्क किया जा सकता है कि द्रोणाचार्य जैसे कट्टर ब्राह्मण को सैन्य विज्ञान के शिक्षक क्यों बनाये गये थे? इसका उत्तर यह है कि ब्राह्मण को

शिक्षक बनना चाहिए, चाहे वह विद्या के किसी भी विभाग को क्यों न जानता या सिखाता हो। विद्वान ब्राह्मण को शिक्षक, धर्मोपदेशक तथा दान का पात्र बनना चाहिए। प्रामाणिक ब्राह्मण ऐसे पेशे (व्यवसाय) ग्रहण करने के लिए अधिकृत हैं।

स एष भगवान्द्रोणः प्रजारूपेण वर्तते ।

तस्यात्मनोऽर्धं पत्न्यास्ते नान्वगाद्वीरसूः कृपी ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; एषः—निश्चय ही; भगवान्—स्वामी; द्रोणः—द्रोणाचार्य; प्रजा-रूपेण—अपने पुत्र अश्वत्थामा के रूप में; वर्तते—उपस्थित हैं; तस्य—उनके; आत्मनः—शरीर का; अर्धम्—आधा; पत्नी—पत्नी; आस्ते—जीवित है; न—नहीं; अन्वगात्—अनुगमन किया; वीरसूः—पुत्र वाली, पुत्रवती; कृपी—कृपाचार्य की बहन।

अपने पुत्र द्वारा प्रतिनिधित्व किये जाने के कारण वे (द्रोणाचार्य) अब भी निश्चित रूप से विद्यमान हैं। उनकी पत्नी कृपी सती नहीं हुई, क्योंकि वे पुत्रवती थीं।

तात्पर्य : द्रोणाचार्य की पत्नी कृपी कृपाचार्य की बहन थीं। शास्त्रों के अनुसार पतिपरायणा स्त्री, अर्धांगिनी होती है और यदि वह निःसन्तान हो, तो अपने पति के साथ स्वेच्छा से मृत्यु का वरण कर सकती है। लेकिन द्रोणाचार्य की पत्नी को ऐसा नहीं करना पड़ा, क्योंकि उसके पुत्र था जो उसके पति का प्रतिनिधि था। पुत्रवती विधवा नाम के लिए विधवा होती है। अतएव हर तरह से अश्वत्थामा द्रोणाचार्य का प्रतिनिधि था अतएव अश्वत्थामा का वध करने का अर्थ था, मानो द्रोणाचार्य का वध। अश्वत्थामा के वध न करने के लिए द्रौपदी का यही तर्क था।

तद् धर्मज्ञ महाभाग भवद्भिर्गौरवं कुलम् ।

वृजिनं नार्हति प्राप्तुं पूज्यं वन्द्यमभीक्षणशः ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

तद्—अतएव; धर्म-ज्ञ—धर्म का ज्ञाता; महा-भाग—अत्यन्त भाग्यशाली; भवद्भिः—आपके द्वारा; गौरवम्—गौरवान्वित; कुलम्—कुल; वृजिनम्—पीड़ादायक; न—नहीं; अर्हति—योग्य है; प्राप्तुम्—पाने के लिए; पूज्यम्—पूज्य; वन्द्यम्—वन्दनीय; अभीक्षणशः—निरन्तर।

हे धर्म के ज्ञाता परम भाग्यशाली, यह आपको शोभा नहीं देता कि आप सदा से पूज्य तथा वन्दनीय, गौरवशाली परिवार के सदस्यों के शोक का कारण बनें।

तात्पर्य : किसी सम्मानित परिवार के प्रति लेशमात्र अपमान दुख उत्पन्न करने वाला होता है।
अतः सुसंस्कृत मनुष्य को चाहिए कि ऐसे पूज्य कुल के सदस्यों के प्रति सोच-समझ कर व्यवहार करे।

मा रोदीदस्य जननी गौतमी पतिदेवता ।
यथाहं मृतवत्सार्ता रोदिम्यश्रुमुखी मुहुः ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

मा—**नहीं**; रोदीत्—**रोए**; अस्य—**इसकी**; जननी—**माता**; गौतमी—**द्रोण-पत्नी**; पति-देवता—**पतिव्रता**; यथा—**जैसा** कि; अहम्—**मैं**; मृत-वत्सा—**जिसका पुत्र मर चुका है**; आर्ता—**दुखी**; रोदिमि—**रोती हुई**; अश्रु-मुखी—**आँखों में अश्रु भरे**; मुहुः—**निरन्तर**।

हे स्वामी, द्रोणाचार्य की पत्नी को मेरे समान मत रुलाओ। मैं अपने पुत्रों की मृत्यु के लिए संतप्त हूँ। कहीं उसे भी मेरे समान निरन्तर रोना न पड़े।

तात्पर्य : करुणामयी उत्तम नारी होने के कारण श्रीमती द्रौपदी माता की अनुभूतियों और द्रोणाचार्य की पत्नी जीवित होने से उनका पूज्य पद होने की दृष्टि से नहीं चाह रही थी कि द्रोणाचार्य की पत्नी भी उन्हीं की तरह संतति विहीन हों।

यैः कोपितं ब्रह्मकुलं राजन्यैरजितात्मभिः ।
तत् कुलं प्रदहत्याशु सानुबन्धं शुचार्पितम् ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

यैः—**जिनके द्वारा**; कोपितम्—**क्रुद्ध**; ब्रह्म-कुलम्—**ब्राह्मणों का कुल**; राजन्यैः—**राजा कुल से**; अजित—**निरंकुश**; आत्मभिः—**अपने से**; तत्—**उस**; कुलम्—**कुल को**; प्रदहति—**जला देती है**; आशु—**तुरन्त**; स-अनुबन्धम्—**कुटुम्बियों समेत**; शुचा-अर्पितम्—**कष्ट पाने पर**।

यदि इन्द्रियतृप्ति में निरंकुश बनकर राजकुल ब्राह्मण कुल को अपमानित और कुपित करता है, तो वह क्रोध की अग्नि समस्त राजकुल को जला देती है और सबों को दुख देती है।

तात्पर्य : समाज का ब्राह्मण-वर्ग, अथवा आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नत जाति या समुदाय तथा ऐसे उच्चकुलों के सदस्य सदा ही अन्य आश्रित वर्णों द्वारा, यथा राजन्य, वणिक वर्ग तथा श्रमिकों द्वारा सम्मानित होता था।

सूत उवाच

धर्म्यं न्याय्यं सकरुणं निर्व्यलीकं समं महत् ।

राजा धर्मसुतो राज्ञ्याः प्रत्यनन्दद्वचो द्विजाः ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; धर्म्यम्—धर्म के नियमों के अनुसार; न्याय्यम्—न्याय; स-करुणम्—करुणा से पूर्ण; निर्व्यलीकम्—धर्म में द्वैत के बिना; समम्—समता; महत्—गौरवशाली; राजा—राजा; धर्म-सुतः—पुत्र; राज्ञ्याः—महारानी द्वारा; प्रत्यनन्दत्—अनुमोदित; वचः—कथन; द्विजाः—हे ब्राह्मणो।

सूत गोस्वामी ने कहा : हे ब्राह्मणो, राजा युधिष्ठिर ने रानी के वचनों का पूर्ण अनुमोदन किया, क्योंकि वे धर्म के नियमों के अनुसार न्यायोचित, गौरवशाली, दया तथा समता से पूर्ण एवं निष्कपट थे।

तात्पर्य : महाराज युधिष्ठिर जो धर्मराज या यमराज के पुत्र थे, उन्होंने महारानी द्रौपदी के इन वचनों का अनुमोदन किया कि अर्जुन अश्वत्थामा को मुक्त कर दे। मनुष्य को चाहिए कि उच्च कुल के सदस्य की अवमानना को सहन न करे। अर्जुन तथा उसका परिवार द्रोणाचार्य के कुल के प्रति कृतज्ञ थे, क्योंकि अर्जुन ने उनसे धनुर्विद्या सीखी थी। यदि ऐसे उदार परिवार के प्रति कृतघ्नता प्रदर्शित की जाय, तो नैतिक दृष्टि से यह उचित न होगा। द्रोणाचार्य की अर्धांगिनी के साथ अनुकंपापूर्वक व्यवहार किया जाना चाहिए था, जिससे वह अपने पुत्र की मृत्यु के कारण दुखी न हो। यही अनुकंपा है। द्रौपदी के ये वचन बिना किसी कपट के हैं, क्योंकि पूरी तरह जानकर ही कोई कदम उठाना चाहिए। इसमें समता का भाव था, क्योंकि द्रौपदी ने निजी अनुभव के आधार पर यह कहा था। कोई बाँझ स्त्री कभी माता की पीड़ा नहीं समझ सकती। द्रौपदी स्वयं माता थी, अतएव कृपी की शोक-वेदना का उसका अनुमान सही था। यह उसके गौरव के अनुकूल भी था, क्योंकि वह उस उच्च कुल के प्रति समुचित सम्मान प्रदर्शित करना चाहती थी।

नकुलः सहदेवश्च युयुधानो धनञ्जयः ।

भगवान् देवकीपुत्रो ये चान्ये याश्च योषितः ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

नकुलः—नकुल; सहदेवः—सहदेव; च—तथा; युयुधानः—सात्यकि; धनञ्जयः—अर्जुन; भगवान्—भगवान्; देवकी-पुत्रः—देवकी पुत्र, भगवान् श्रीकृष्ण; ये—जो; च—तथा; अन्ये—अन्य; याः—वे; च—तथा; योषितः—स्त्रियाँ।

नकुल तथा सहदेव (राजा के छोटे भाई) तथा सात्यकि, अर्जुन, देवकीपुत्र भगवान्

श्रीकृष्ण तथा स्त्रियों एवं अन्यो ने एक स्वर से राजा से सहमति व्यक्त की।

तत्राहामर्षितो भीमस्तस्य श्रेयान् वधः स्मृतः ।

न भर्तुर्नात्मनश्चार्थे योऽहन् सुप्तान् शिशून् वृथा ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

तत्र—तत्पश्चात्; आह—कहा; अमर्षितः—क्रुद्ध स्वर में; भीमः—भीम ने; तस्य—उसका; श्रेयान्—परम कल्याण; वधः—वध; स्मृतः—अंकित; न—नहीं; भर्तुः—स्वामी का; न—न तो; आत्मनः—अपने आपका; च—तथा; अर्थे—के लिए; यः—जो; अहन्—मारा; सुप्तान्—सोते हुए; शिशून्—बालकों को; वृथा—व्यर्थ ही।

लेकिन भीम जो क्रुद्ध मनोदशा में था, उनसे सहमत नहीं हुआ और उसने उस दोषी के

वध किये जाने की संस्तुति की, जिसने व्यर्थ ही सोते हुए बालकों की हत्या कर दी थी

जिसमें न तो उसका अपना, न ही उसके स्वामी का हित था।

निशम्य भीमगदितं द्रौपद्याश्च चतुर्भुजः ।

आलोक्य वदनं सख्युरिदमाह हसन्निव ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

निशम्य—सुनते ही; भीम—भीम द्वारा; गदितम्—कहा गया; द्रौपद्याः—द्रौपदी का; च—तथा; चतुः-भुजः—चार भुजाओं वाले (भगवान्) ने; आलोक्य—देखकर; वदनम्—मुख; सख्युः—अपने मित्र का; इदम्—यह; आह—कहा; हसन्—हँसते हुए; इव—मानो।

भीम, द्रौपदी तथा अन्यो के वचन सुनकर, चतुर्भुज भगवान् ने अपने प्रिय सखा अर्जुन

के मुँह की ओर देखा और मानो मुस्कुरा रहे हों, बोलना प्रारम्भ किया।

तात्पर्य : भगवान् श्रीकृष्ण के दो भुजाएँ थीं, किन्तु उन्हें चतुर्भुज क्यों कहा गया है, इसकी व्याख्या श्रीधर स्वामी ने की है। अश्वत्थामा के वध के सम्बन्ध में भीम तथा द्रौपदी दोनों के मत भिन्न-भिन्न थे। भीम उसे तुरन्त मार देना चाहता था, लेकिन द्रौपदी उसे बचाना चाहती थी। हम इस बात की कल्पना कर सकते हैं कि भीम मारने के लिए तैयार है, किन्तु द्रौपदी उसे रोक रही है। अतएव इन दोनों को रोकने के लिए, भगवान् ने दो और भुजाएँ निकाल लीं। मूलतः आदि भगवान् श्रीकृष्ण दो भुजाएँ प्रदर्शित करते हैं, लेकिन उनके नारायण रूप में वे चार भुजाएँ प्रदर्शित करते हैं। वे अपने नारायण रूप में अपने भक्तों के साथ वैकुण्ठलोक में रहते हैं, जबकि अपने मूल श्रीकृष्ण रूप में वे कृष्णलोक में निवास करते हैं जो आध्यात्मिक आकाश में वैकुण्ठलोक से बहुत ऊपर है। अतः यदि श्रीकृष्ण को चतुर्भुज कहा गया है तो इसमें कोई विरोधाभास नहीं है। यदि आवश्यकता पड़े तो वे सैकड़ों भुजाओं वाले बन सकते हैं, जैसाकि उन्होंने अर्जुन को अपने विश्वरूप में दिखलाया था। अतएव जो सैकड़ों, हजारों भुजाएँ प्रदर्शित कर सकते हैं, वे आवश्यकता पड़ने पर चार भुजाएँ भी प्रदर्शित कर सकते हैं।

अर्जुन जब असमंजस में था कि अश्वत्थामा का क्या किया जाय तो अर्जुन के परम प्रिय मित्र श्रीकृष्ण ने इस समस्या का हल ढूँढ निकालने का भार अपने ऊपर ले लिया और वे मुस्कुरा भी रहे थे।

श्रीभगवानुवाच

ब्रह्मबन्धुर्न हन्तव्य आततायी वधार्हणः ।

मयैवोभयमाम्नातं परिपाह्यनुशासनम् ॥ ५३ ॥

कुरु प्रतिश्रुतं सत्यं यत्तत्सान्त्वयता प्रियाम् ।

प्रियं च भीमसेनस्य पाञ्चाल्या मह्यमेव च ॥ ५४ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच— भगवान् ने कहा; ब्रह्म-बन्धुः—ब्राह्मण का सम्बन्धी; न—नहीं; हन्तव्यः—वध करने योग्य; आततायी—आततायी, आक्रामक; वध-अर्हणः—वध करने योग्य है; मया—मेरे द्वारा; एव—निश्चय ही; उभयम्—दोनों; आमनातम्—शास्त्र के आदेशानुसार; परिपाहि—पालन करो; अनुशासनम्—आदेश; कुरु—पालन करो; प्रतिश्रुतम्—जैसाकि प्रतिज्ञा की गई है; सत्यम्—सत्य; यत् तत्—वह जो; सान्त्वयता—सान्त्वना देते हुए; प्रियाम्—प्रिय

पत्नी को; प्रियम्—तुष्टि; च—तथा; भीमसेनस्य—श्रीभीमसेन की; पाञ्चाल्याः—द्रौपदी की; मह्यम्—मेरी भी; एव—निश्चय ही; च—तथा।

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा : किसी ब्रह्मबन्धु का वध नहीं करना चाहिए, किन्तु यदि वह आततायी हो, तो उसे अवश्य मारना चाहिए। ये सारे आदेश शास्त्रों में हैं और तुम्हें इन्हीं के अनुसार कार्य करना चाहिए। तुम्हें अपनी पत्नी को दिये गये वचन भी पूरे करने हैं और तुम्हें भीमसेन तथा मेरी तुष्टि के लिए भी कार्य करना है।

तात्पर्य : अर्जुन असमंजस में था, क्योंकि विभिन्न शास्त्रों में से विभिन्न व्यक्तियों द्वारा दिये गये प्रमाण के अनुसार अश्वत्थामा का वध होना था और उसे जीवनदान भी मिलना था। ब्रह्मबन्धु या ब्राह्मण के निकम्मे पुत्र के रूप में अश्वत्थामा वध्य नहीं था, किन्तु साथ ही वह आततायी भी था। मनु द्वारा निर्दिष्ट मत के अनुसार आततायी, यद्यपि वह ब्राह्मण ही क्यों न हो, (ब्राह्मण के अयोग्य पुत्र का क्या कहना) वध्य होता है। द्रोणाचार्य निस्सन्देह असली ब्राह्मण थे, लेकिन वे युद्धभूमि में डटे थे, इसलिए मारे गये। पर अश्वत्थामा आततायी होकर भी बिना किसी अस्त्र के खड़ा था। नियम इस तरह है कि यदि आततायी अस्त्ररहित या रथविहीन हो, तो उसका वध नहीं किया जाना चाहिए। निश्चित रूप से ये सब अर्जुन की उलझनें थीं। इनके अतिरिक्त, अर्जुन को अपने उस वचन का पालन करना था, जिसे उसने द्रौपदी को सान्त्वना देते हुए दिया था। और उसे भीम तथा कृष्ण को भी सन्तुष्ट करना था, जिन्होंने अश्वत्थामा के वध की सलाह दी थी। यह दुविधा थी अर्जुन के समक्ष और इसका समाधान निकाला कृष्ण ने।

सूत उवाच

अर्जुनः सहसाज्ञाय हरेर्हार्दमथासिना ।

मणिं जहार मूर्धन्यं द्विजस्य सहमूर्धजम् ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; अर्जुनः—अर्जुन ने; सहसा—ठीक उसी समय; आज्ञाय—जानते हुए; हरेः—भगवान् के; हार्दम्—अभीष्ट; अथ—इस प्रकार; असिना—तलवार से; मणिम्—मणि को; जहार—विलग कर दिया; मूर्धन्यम्—सिर पर; द्विजस्य—द्विज के; सह—सहित; मूर्धजम्—बालों के।

उसी समय अर्जुन भगवान् की अनेकाधिक आज्ञा का प्रयोजन समझ गया और इस तरह उसने अपनी तलवार से अश्वत्थामा के सिर से केश तथा मणि दोनों पृथक् कर दिये।

तात्पर्य : विभिन्न व्यक्तियों के परस्पर विरोधी आदेशों का पालन करना असम्भव होता है। अतएव अर्जुन ने अपनी तीक्ष्ण बुद्धि से मध्यम मार्ग खोज निकाला और उसने अश्वत्थामा के सिर से मणि पृथक् कर दी। यह उसका सिर काटने जैसा ही था, फिर भी व्यावहारिक रूप से उसकी जान बची रही। यहाँ पर अश्वत्थामा को द्विज कहा गया है। निस्सन्देह, वह द्विज था, लेकिन वह अपने पद से गिर चुका था, इसलिए उसे उचित ही दण्ड मिला।

विमुच्य रशनाबद्धं बालहत्याहतप्रभम् ।

तेजसा मणिना हीनं शिबिरान्निरयापयत् ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

विमुच्य—उसे छोड़ देने पर; रशना-बद्धम्—रस्सियों के बन्धन से; बाल-हत्या—बालकों के वध से; हत-प्रभम्—शारीरिक कान्ति का क्षय; तेजसा—शक्ति से; मणिना—मणि से; हीनम्—रहित; शिबिरात्—शिविर से; निरयापयत्—निकाल भगाया।

बालहत्या के कारण वह (अश्वत्थामा) पहले ही अपनी शारीरिक कान्ति खो चुका था और अब, अपनी शीर्ष मणि खोकर, वह शक्ति से भी हीन हो गया। इस प्रकार उसकी रस्सियाँ खोल कर उसे शिविर से बाहर भगा दिया गया।

तात्पर्य : इस प्रकार भगवान् कृष्ण तथा अर्जुन की बुद्धि के कारण अपमानित अश्वत्थामा, एक ही साथ, मारा भी गया और नहीं भी मारा गया।

वपनं द्रविणादानं स्थानान्निर्यापणं तथा ।

एष हि ब्रह्मबन्धूनां वधो नान्योऽस्ति दैहिकः ॥ ५७ ॥

शब्दार्थ

वपनम्—सिर से बालों को मुँड़ा कर; द्रविण—धन; अदानम्—छीना गया; स्थानात्—घर से; निर्यापणम्—भगाया गया; तथा—भी; एषः—ये सब; हि—निश्चय ही; ब्रह्म-बन्धूनाम्—ब्राह्मण के सम्बन्धियों का; वधः—वध, हत्या; न—नहीं; अन्यः—अन्य कोई विधि; अस्ति—है; दैहिकः—शरीर के विषय में।

उसके सिर के बाल मूँड़ना, उसे संपदाहीन करना तथा उसे घर से भगा देना—ये हैं ब्रह्मबन्धु के लिए निश्चित दंड। शारीरिक वध करने का कोई विधान नहीं है।

पुत्रशोकातुराः सर्वे पाण्डवाः सह कृष्णया ।

स्वानां मृतानां यत्कृत्यं चक्रुर्निर्हरणादिकम् ॥ ५८ ॥

शब्दार्थ

पुत्र—पुत्रों के; शोक—शोक से; आतुराः—अभिभूत; सर्वे—वे सभी; पाण्डवाः—पाण्डु के पुत्र; सह—सहित; कृष्णया—द्रौपदी; स्वानाम्—परिजनों के; मृतानाम्—मृत; यत्—जो; कृत्यम्—करणीय; चक्रुः—सम्पन्न किया; निर्हरण-आदिकम्—जो कुछ किया जा सकता था।

तत्पश्चात् शोकाभिभूत पाण्डु-पुत्रों तथा द्रौपदी ने अपने स्वजनों के मृत शरीरों (शवों)

का समुचित दाह-संस्कार किया।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कन्ध के अन्तर्गत “द्रोण-पुत्र को दण्ड” नामक सातवें

अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।